



वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

SW- 06

Human Growth and Development

(मानव वृद्धि एवं विकास)

अनुक्रमणिका

| इकाई संख्या एवं इकाई का नाम | पृष्ठ संख्या |
|--------------------------------------|--------------|
| इकाई 1 मानव विकास :अर्थ एवं अवस्थाएं | 1-9 |
| इकाई 2 शैशवावस्था एवं बाल्यावस्था | 10- 20 |
| इकाई 3 किशोरावस्था | 21- 27 |
| इकाई 4 वयस्क अवस्था एवं वृद्धावस्था | 28-40 |
| इकाई 5 बुद्धिमता | 41-47 |
| इकाई 6 अधिगम (सीखना) | 42-58 |
| इकाई 7 प्रेरणा | 59 -66 |
| इकाई 8 मनोवृत्ति एवं पूर्वाग्रह | 67-80 |
| इकाई 9 समाजीकरण | 81-90 |

मानव विकास : अर्थ एवं अवस्थाएं

इकाई की रूपरेखा

- 1.0 उद्देश्य
- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 मानव विकास का अर्थ एवं अवधारणा
- 1.3 मानव विकास की अवस्थाएं
- 1.4 सारांश
- 1.5 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 1.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद, आप:

- मानव विकास की अवधारणा को समझ सकेंगे।
- मानव विकास की अवस्थाओं का उल्लेख कर सकेंगे
- प्रत्येक अवस्था और उसकी प्रमुख विशेषताओं को पहचान सकेंगे
- प्रत्येक अवस्था में मनुष्य के जैविक, शारीरिक, सामाजिक, संवेगात्मक वृद्धि और विकास पर चर्चा कर सकेंगे
- मानव विकास की अवस्थाओं को स्पष्ट करने वाले मनोगतिक सिद्धान्तों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

मानव विकास प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को प्रभावित करता है। मानव विकास का अध्ययन अत्यंत आकर्षक, परन्तु जटिल है। मानव विकास के अंतर्गत मानव शरीर में परिवर्तन जीवनपर्यन्त चलता है, परन्तु जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में ये परिवर्तन सर्वाधिक स्पष्ट होते हैं। मानव जीवनकाल के ये परिवर्तन बहुतायत, विविध और जटिल होते हैं। विकास व्यक्ति के पर्यावरण में निहित विभिन्न प्रकार के कारकों के प्रभावों पर निर्भर करता है। उन प्रभावों के अंतःसंपर्क को समझना व्यावहारिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। आनुवंशिक कारक (आंतरिक प्रभाव) और पर्यावरणीय कारक (बाहरी प्रभाव) वृद्धि और विकास का निर्धारण करने के लिए विभिन्न तरीकों से अंतःक्रिया करते हैं। किसी मानव विशेषता को कोई विशिष्ट आनुवंशिक कारक अथवा किसी विशिष्ट पर्यावरणीय कारक का परिणाम मानना कठिन है। परिवार को बालक की वृद्धि और विकास के लिए जिम्मेदार माना जाता है।

परिवार एवं बालक के बीच परस्पर संबंध होता है। परिवार के सदस्य निश्चित रूप से बालक के विकास को प्रभावित करते हैं, एवं बालक भी अपने परिवार को प्रभावित करने में योगदान करता है।

1.2 मानव विकास का अर्थ एवं अवधारणा

मानव विकास एक साथ उन तरीकों पर बल देते हैं जिनमें व्यक्ति रहते हैं और स्वयं को परिवर्तित करते हैं। ये दो रूप सामाजिक परिवर्तन की वृद्धियों से सम्बंधित है। यद्यपि सभी मनुष्य अलग-अलग हैं, तो भी ये वृद्धि और विकास के अपेक्षित विन्यासों का अनुसरण करते हैं जो सभी के लिए समान हैं। इन प्रक्रियाओं का अध्ययन सामाजिक परिवर्तन की प्रवृत्ति का वर्णन करने, स्पष्टीकरण करने, पूर्वानुमान लगाने और संशोधन करने पर बल देता है। विकास (शारीरिक वृद्धि और मनोसामाजिक विकास) के विविध पक्ष अलग से घटित नहीं होते हैं।

मानव विकास का क्रम आजीवन चलता रहता है। गर्भाधान से मृत्यु पर्यन्त तक प्राणी में परिवर्तन का क्रम चलता रहता है।

डॉ. जी. गोर्डन ने विकास के लिए लिखा है, “विकास एक ऐसी प्रक्रिया है, जो व्यक्ति के जन्म से लेकर उस समय तक चलती रहती है जब तक कि वह पूर्ण विकास को प्राप्त नहीं कर लेता है।”

हरलॉक के अनुसार, “विकास के परिणामस्वरूप व्यक्ति में नवीन विशेषताएं तथा नवीन योग्यताएं जन्म लेती हैं।”

यदि हम मानव विकास अध्ययन की उत्पत्ति के इतिहास को खोजते हैं तो हम पाते हैं कि यह उन्नीसवीं शताब्दी में बाल विकास का वैज्ञानिक अध्ययन आरंभ हुआ। बीसवीं शताब्दी तक किशोरावस्था (Adolescents) को मानव विकास की अलग अवस्था नहीं समझा जाता था। जी. स्टैनले हॉल के योगदानों ने किशोरावस्था को एक महत्वपूर्ण अवस्था के रूप में प्रस्तुत किया और वह जराण (old) अर्थात् वृद्ध होने की प्रक्रिया का अध्ययन करने वाले प्रथम मनोवैज्ञानिक थे। 1940 के दशक से ही जराण अध्ययन का प्रमुख क्षेत्र बन गया था। आजकल मानव विकास को पर्याप्त महत्व दिया जाता है क्योंकि यह जन्म से मृत्यु तक, मनुष्य के जीवन की प्रत्येक अवस्था में होने वाले परिवर्तनों को समझने में हमारी सहायता करता है।

मनुष्य सभी पशुओं की भांति ही एक एकल कोशिका निषेचित डिम्ब के रूप में जीवन आरंभ करते हैं। ये कोशिका विभाजित होकर, भ्रूण, गर्भस्थ शिशु (Embryo) बालक और व्यस्क में बढ़ती और विकसित होती है। वृद्धि और विकास साथ-साथ होते हैं, ये अलग-अलग जैविक प्रक्रियाएं हैं। विकास को आकार और वजन में परिमाणात्मक वृद्धि के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। ऊंचाई का सेंटीमीटर तथा वजन का किलोग्राम में माप हमें बताता है कि मनुष्य में कितनी वृद्धि हुई है। इसके अतिरिक्त, शरीर के अंग जैसे गुर्दे या मस्तिष्क की वृद्धि को मौजूद कोशिकाओं की संख्या, वजन अथवा आकार का माप करके समझाया जा सकता है। विकास की परिभाषा को परिणात्मक अथवा गुणात्मक प्रगति के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। जो समरूप अथवा अपरिपक्व स्थिति से उच्च व्यवस्थित विशेषीकृत और परिपक्व अवस्था की ओर अग्रसर होती है। उदाहरण के लिए, बालक के गामक कौशल (Motor Development) का विकास जो कि चलने और दौड़ने में सहायक होते हैं।

1.3 मानव विकास की अवस्थाएं

विभिन्न शिक्षाविदों एवं मनोवैज्ञानिकों ने वृद्धि और विकास की विभिन्न अवस्थाओं को वर्गीकृत किया है तथा प्रत्येक अवस्था और उनकी विशेषताओं पर गहन अध्ययन किया है। मानव विकास की विभिन्न अवस्थाओं का अध्ययन महत्वपूर्ण होता है जिससे की, हम सामान्य और विशेष आयु सम्बंधी परिवर्तनों का अध्ययन कर सकते हैं। इस प्रकार के अध्ययन में हम - ये परिवर्तन किस अवस्था में होते हैं, उनके होने के क्या कारण हैं, वे किस प्रकार व्यवहार को प्रभावित करते हैं, क्या इन परिवर्तनों का अनुमान लगाया जा सकता है और क्या वे सार्वभौमिक प्रकृति के हैं, इत्यादि को सम्मिलित करते हैं। किसी मानव के विकास को गर्भधारण से लेकर उसकी मृत्यु तक विभिन्न आयु समूहों में विभाजित किया जा सकता है। इन अवस्थाओं को व्यापक रूप से आठ श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है और वे हैं:

- जन्मपूर्व अथवा गर्भकालीन अवस्था - गर्भधारण से लेकर जन्म तक की अवस्था।
- शैशवावस्था - जन्म से तीन वर्ष तक
- प्रारम्भिक या पूर्व बाल्यावस्था - तीन वर्ष से छह वर्ष तक
- उत्तर बाल्यावस्था - छह वर्ष से बारह वर्ष तक
- किशोरावस्था - बारह वर्ष से अठारह वर्ष तक
- युवा प्रौढ़ावस्था - अठारह वर्ष से चालीस वर्ष तक
- मध्यावस्था - चालीस वर्ष से पैसठ वर्ष तक
- उत्तर प्रौढ़ावस्था - पैसठ वर्ष और उससे अधिक

जन्मपूर्व अथवा गर्भकालीन अवस्था

मानव विकास की प्रथम अवस्था पहले दिन से आरम्भ नहीं होती जब बालक इस संसार में जन्म लेता है बल्कि तब से आरम्भ होती है जब बालक मां के गर्भाशय में गर्भधारण के बाद अस्तित्व में आता है। मानव जीवन का प्रारंभ सदैव अत्यंत आकर्षक रहा है। मानव का जैविक प्रारंभ वह क्षण होता है जब एक शुक्राणु (Sperm) जो पिता के लाखों शुक्र कोशिकाओं (Sperm Cells) में से एक शुक्र कोशिका एक डिंब (अंडाणु) के साथ मिलती है, हजारों डिंबों में से एक डिंब बनता है और मां के शरीर में एकत्र हो जाता है। यह प्रक्रिया निषेचन (Fertilization) अथवा गर्भाधन (Pregnancy) कहलाती है जब शुक्राणु और डिंब एकल कोशिका को उत्पन्न करने के लिए एक साथ मिलते हैं। यह युग्मज अथवा युक्ता (Zygote) कहलाता है। जन्मपूर्व अवस्था गर्भावधि समय होता है। यह गर्भावधि समय लगभग नौ महीने अथवा दो सौ छियासठ दिन चलती है, युक्ता, कोशिका विभाजन के साथ बार-बार प्रतिवर्तित होता है। यह सर्वप्रथम भ्रूण में और उसके बाद गर्भस्थ (Embryo) शिशु में विकसित हो जाता है तथा अंत में यह जटिल मानव के रूप में उत्पन्न होता जिसमें लाखों कोशिकाएं होती हैं जो मानव शरीर के विभिन्न कार्यों को करने दक्ष होती हैं।

जन्मपूर्व अवस्था एवं आनुवंशिकता

जन्मपूर्व अवस्था अत्यंत महत्वपूर्ण होती है क्योंकि यह जन्म लेनेवाले मनुष्य की असंख्य महत्वपूर्ण विशेषताओं का निर्धारण करती है। शुक्राणु और डिंब (अंडाणु) के मेल से जैविक वंशानुक्रम (Biological Heredity) की

उत्पत्ति होती है। ये गर्भ के अंदर और बाहर पर्यावरणीय प्रभावों (Environmental effect) के साथ अंतःक्रिया करते हैं। इस अवधि में, हम जन्मपूर्व विकास का पता लगा सकते हैं तथा परीक्षण (जांच) करने की प्रक्रिया पर रिपोर्ट दे सकते हैं तथा इसमें हस्तक्षेप कर सकते हैं। अनुवांशिक परामर्श (Genetic Counseling) के माध्यम से हम बालकों को जन्म संबंधी त्रुटियों सहित जन्म देने की गणितीय विषमताओं का पता लगा सकते हैं। इस प्रकार जन्मपूर्व अवधि जन्म लेनेवाले शिशु में किसी भी असामान्यताओं का पता लगाने के लिए महत्वपूर्ण होती है।

आनुवांशिकता की मूल इकाई जीवन (Life) होता है जो डी.एन.ए. से निर्मित होता है। गुणसूत्रों (Chromosome) में जीन होते हैं जो आनुवांशिक विशेषताओं को निर्धारित करते हैं। गर्भधारण में प्रत्येक सामान्य मनुष्य मां से 23 गुणसूत्र और पिता से भी 23 गुणसूत्र प्राप्त करता है। 23वां गुणसूत्र लिंग गुणसूत्र (Sex Chromosome) होता है। यदि शिशु को प्रत्येक अभिभावक (मां और पिता) से गुणसूत्र X प्राप्त होता है तो लड़की होगी और यदि Y गुणसूत्र प्राप्त होगा तो लड़का होगा। इस प्रकार शिशु का लिंग वास्तव में पिता का योगदान होता है। इस प्रकार यह कहा जाता है कि आनुवांशिकता सगे भाई-बहन के बीच सर्वाधिक समानता के प्रति उत्तरदायी और उसमानताएं अविभाजित पर्यावरण के कारण है।

शैशवावस्था एवं बाल्यावस्था

शैशवावस्था एवं बाल्यावस्था मानव के जन्म से लेकर तीन वर्ष तक की अवधि होती है। यह अवस्था तीव्र वृद्धि और विकास से भी जुड़ी है। सामान्य तौर पर जन्म की प्रक्रिया तब आरंभ होती है जब गर्भस्थ शिशु तैयार होता है। इसकी चार अवस्थाएं हैं:

- 1) ग्रीवा का विकास
- 2) शिशु का हिलना-डूलना एवं उत्पत्ति
- 3) नाल या नाभि-रज्जु (Umbilical Cord)या अपरा (Placenta) का स्राव
- 4) गर्भाशय का संकुचन और मां अपरा (Placenta) का स्राव

नवजात शिशु अवधि (Infant Period) बालक का पहला महीना होता है। यह अवधि संक्रमण की अवधि (Infection Period) होती है। जन्म के समय शिशु का परिसंचरण (Circulation) श्वसन (Respiration), जठरांत्र (Gastric) और तापमान नियंत्रण तंत्र मां से अलग हो जाते हैं। नवजात शिशु निद्रा, जागरूक अवस्था और क्रियाकलाप के बीच बारी-बारी से कार्य करते हैं। वे पर्याप्त समय सोते हैं। इस अवस्था में जो तीन वर्ष तक चलती है, यह देखा जाता है कि पहले वर्ष शिशु का शरीर बहुत तेजी से बढ़ता है। स्तनपान कराने (Lactating) के बहुत अच्छे शरीर क्रियात्मक लाभ (Physical Creative) है और यह मां और शिशु के बीच अटूट सम्बंध को बढ़ता है। संवेदी क्षमताएं (Sensory Ability) जन्म से ही मौजूद होती है और जीवन के पहले कुछ महीनों में तेजी से विकसित होती है। जीवन के पहले तीन महीनों के दौरान, शिशु अपने शारीरिक संचलनों अर्थात् गहियां (Physical) पर नियंत्रण करना आरंभ कर देता है। गामक कौशल (Motor Development) विकसित होता है तथा शिशु स्व-चलन (Auto) करने का भी प्रयास करता है।

शारीरिक वृद्धि और विकास पूरी बाल्यावस्था में मंद गति से होता है तथा शरीर-क्रियात्मक कार्यों (क्रियाओं) का विकास तीव्र गति से होता है। पेशी-नियंत्रण (Muscle Control) सिर, बाजू और हाथ के कौशलों से आरंभ होता है। इस अवधि में, हम भाषा विकास भी देखते हैं। संप्रेषण (संचार) तब आरंभ होता है जब शिशु वह सब कुछ समझता है जब अन्य लोग उससे बातचीत कर रहे होते हैं और तब वे दूसरों के साथ भी संचार करते

है। प्राक्-भाषाविज्ञान भाषण जो शब्दों से पहले होता है उसमें सेना, विलकना और नकल करने की आवाजें शामिल हैं।

शिशु सामान्य तौर पर संकेतों का प्रयोग करते हैं। 10 महीने तक शिशु सार्थक भाषा समझना आरंभ कर देते हैं। शिशु 10 से 14 महीनों तक प्रथम शब्द आरंभ कर देता है। तीन वर्ष तक, व्याकरण और वाक्य-रचना (Sentence Formation) भली-भांति विकसित हो जाते हैं। इस अवस्था में प्रारंभिक सामाजिक आधार महत्वपूर्ण होते हैं। क्योंकि शिशु सामाजिक स्थितियों में जिस प्रकार का व्यवहार प्रदर्शित करता है, वह उसके निजी और सामाजिक समायोजन (तालमेल) को प्रभावित करता है। ये प्रतिमान (Pattern) जीवन पर्यन्त बने रहते हैं। नैतिक विकास में अनुशासन की भूमिका मुख्य रूप से क्रमशः गलत व्यवहार के लिए दंड एवं स्वीकृत व्यवहार के लिए पुरस्कार के रूप में होती है। इस अवधि में यौन भूमिका विशेषता भी आरंभ होती है। मनोसामाजिक विकास जिसमें संवेग, स्वभाव और अभिभावकों के साथ पूर्व अनुभव भी शामिल है, उनके लिए आधारशिलाएं रखी जाती हैं।

यह अवस्था निम्नलिखित अनुक्रम में व्यक्ति की स्व.अवधारणा को भी विकसित करती हैं

- शारीरिक स्व-मान्यता एवं स्व-जागरूकता
- आत्म-विवरण(self-description) और स्व-मूल्यांकन, एवं
- गलत कार्य करने के प्रति संवेगात्मक प्रतिक्रिया

प्रारंभिक बाल्यावस्था (Pre Childhood)

प्रारंभिक बाल्यावस्था तीन से छह वर्ष तक रहती है। इसे विभिन्न नामों से पुकारा जाता है जैसे खिलौना आयु, विद्यालय पूर्व अवस्था (Pre School Stage), कष्टप्रद अवस्था अथवा टोलीपूर्व आयु (Pre Peer Stage)। प्रारंभिक बाल्यावस्था में शरीरिक विकास मंद गति से आगे बढ़ता है तथा शरीर-क्रियात्मक आदतें जो बचपनावस्था में शुरू हुई थीं, वे इस अवस्था में स्थायी हो जाती हैं। यह अवधि कौशल प्राप्त करने वाली अवधि होती है क्योंकि बालक सरलता से दोहराता है और कौशल सीखता है। भाषा एवं बोध (Language and Perception) का विकास होने लगता है। संवेगात्मक विकास वृद्धि, लिंग, पारिवारिक पृष्ठभूमि और बालक के पालन-पोषण के अनुसार होता है जिन्में व्यक्ति द्वारा अनुभव किया जाता है। खेल बालक के सर्वांगीण विकास के लिए महत्वपूर्ण हैं। खेल बालक द्वारा अर्जित किए गए कौशलों, अन्य समूह-साथियों (Group-mates) के बीच उनकी लोकप्रियता तथा उनके परिवारों को सामाजिक-आर्थिक परिस्थिति के द्वारा प्रभावित है। अभिभावक, साथी और विभिन्न पारिवारिक संबंध बालक की समाजीकरण प्रक्रिया (Socialization process) में तथा स्वअवधारणा विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। अभिभावक अनुशासन, शिक्षण के तरीकों, आत्म-नियंत्रण तथा स्वीकार्य व्यवहार के माध्यम से बालकों के व्यवहार को प्रभावित करते हैं।

उत्तर बाल्यावस्था

उत्तर बाल्यावस्था छह वर्ष से बारह वर्ष तक होती है। यह अवधि उस अवधि से पहले होती है जब बालक यौनरूप से परिपक्व होती है। इस अवधि में शारीरिक वृद्धि अपेक्षाकृत समान गति पर होती है तथा स्वास्थ्य, पोषण, प्रतिरक्षीकरण (immunization), काम वासना और बुद्धि से प्रभावित होती है। उत्तर बाल्यावस्था में विकसित हुए कौशलों को चार समूहों: स्व-सहायता कौशलों, सामाजिक-सहायता कौशलों, विद्यालय कौशलों और खेल कौशलों में वर्गीकृत किया जा सकता है। वाक शक्ति (शब्द) उच्चारण, शब्दावली, वाक्य संरचना के सभी क्षेत्रों में तेजी से सुधार आता है।

बड़े बालक अपने संवेगों की प्रत्येक अभिव्यक्ति को नियंत्रित करने तथा समाजिक दबावों से उत्पन्न संवेगों को दूर करने के लिए संवेगात्मक शांति (emotional peace) का प्रयोग करना सीखते हैं बड़े बालक अपने साथियों के साथ क्रियाकलापों में रुचि रखना चाहते हैं। ये बालक अभिभावक के मानदंडों को प्रायः अस्वीकार करते हैं और विपरीत लिंगी व्यक्तियों के प्रति विरोध पूर्ण दृष्टिकोण विकसित करते हैं। बुद्धि और अधिगम अवसरों के परिणामस्वरूप अवधारणाओं की तेजी से जानकारी होती है।

इस अवधि में बालक जिन नैतिक संहिताओं (Ethical Codes) को विकसित करते हैं, वे संबंधित समूहों के नैतिक मानदंडों द्वारा प्रभावित होती हैं। बड़े बालकों की रुचियां छोटे बालकों की रुचियों से अधिक व्यापक होती है और अनेक नए विषय भी शामिल होते हैं, जैसे वस्त्र, मानव, शरीर, लिंग, विद्यालय, भावी व्यवसाय, प्रतिष्ठा प्रतीक और स्वायत्ता। उत्तर बाल्यावस्था में स्त्री-पुरुष भूमिका बालकों के रूप-रंग, व्यवहार, आकांक्षाओं, उपलब्धियों, रुचियों विपरीत लिंग के व्यक्तियों के प्रति दृष्टिकोण और स्व-मूल्यांकन को प्रभावित करती है।

किशोरावस्था

किशोरावस्था बारह वर्ष से अठारह वर्ष तक होती है। यह वह अवधि है जब व्यक्ति यौनरूप से व्यस्क होता है और यह अवधि तब समाप्त होती है जब व्यक्ति कानूनी रूप से परिपक्व होता है। व्यक्ति के जीवनकाल में यह अवधि महत्वपूर्ण है क्योंकि यह एक संक्रमण अवस्था, परिवर्तनों का समय, एक समस्या-आयु और एक ऐसा समय है जब व्यक्ति एक पहचान की तलाश करता है तथा व्यस्कता का प्रवेश द्वार है। किशोरावस्था में वयःसंधि (Puberty) एक संक्षिप्त अवस्था है। यह बालक और बालिकाओं में विभिन्न आयु में होता है। लड़कियों में इसकी औसत आयु तेरह वर्ष है तथा इसकी पहचान प्रथम रजःस्राव (Menstruation) का प्रारंभ है तथा लड़कों में यह चौदह वर्ष है तथा उनमें यह स्वप्नदोष (Emission) कहलाता है। वयःसंधि में तीव्र वृद्धि और परिवर्तन का निर्धारण आनुवांशिक कारकों तथा पर्यावरणी कारकों से होता है जैसे पोषण, स्वास्थ्य और संवेगात्मक दबाव। वयःसंधि परिवर्तन शारीरिक कल्याण, को प्रभावित करते हैं। दृष्टिकोणों तथा व्यवहार को भी प्रभावित करते हैं। यह महत्वपूर्ण है कि वयःसंधि में व्यक्ति सामान्य अवस्था से सम्बंध रखते हैं तथा नकारात्मक आत्मसंयम विकसित नहीं करते। शारीरिक परिवर्तन और महिला पुरुष की भूमिकाओं को स्वीकार करने में अयोग्य नहीं होते जिनकी अपेक्षा समाज उनसे करता है।

किशोरावस्था के विकासात्मक कार्य में बालकों के दृष्टिकोण और व्यवहार में परिवर्तन की मांग करते हैं। अनेक किशोर कुछ इन विकास कार्यों में आकृष्ट होने के साथ परिपक्वता प्राप्त करते हैं तथा कुछ दूसरे प्रौढ़ावस्था में इसे जारी रखते हैं। किशोरावस्था में महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तनमें साथी-समूह प्रभाव और परिपक्व सामाजिक व्यवहार शामिल है। किशोरावस्था की कुछ महत्वपूर्ण अभिरूचियां मनोरंजन सम्बंधी अभिरूचियां निजी और सामाजिक अभिरूचियां और शैक्षिक अभिरूचियां, व्यावसायिक और धार्मिक अभिरूचियां तथा प्रतिष्ठा प्रतीकों में अभिरूचियां शामिल है।

इस अवधि में नैतिकता में परिवर्तन होते हैं जो विशिष्ट नैतिक अवधारणाओं से अनुचित और उचित की सामान्य नैतिक अवधारणाओं में परिवर्तित हो जाते हैं तथा अंतःकरण के विकास द्वारा उनके व्यवहार पर नियंत्रण होता है। किशोरावस्था उच्च आवेगों की अवधि है। अतः कभी-कभी परिवार के सदस्यों के साथ सम्बंध तनावपूर्ण हो जाते हैं। वे समझते हैं कि अभिभावक उन्हें समझने में असफल है।

युवावस्था या युवा प्रौढ़ावस्था

युवावस्था या युवा प्रौढ़ावस्था की अवधि अठारह वर्ष से लगभग चालीस वर्ष होती है तथा शारीरिक और मनोवैज्ञानिक परिवर्तन घटित होते हैं तथा इसके बाद प्रजनन क्षमता कम होनी आरंभ हो जाती है। युवा प्रौढ़ावस्था व्यवस्थापन काल (management time) और प्रजनन काल होता है यह प्रतिबद्धताओं और स्वावलंबन का समय होता है और मूल्य व्यवस्था में भी परिवर्तन होते हैं। व्यस्क व्यक्ति अपने नए जीवन विन्यासों में ढल जाता है। इस अवस्था में विकास कार्यों में निपुण होने के साधन शारीरिक कार्यक्षमा, गामक और मानसिक योग्यताएं, अभिप्रेरणा और एक अच्छा भूमिका-प्रतिरूप (आदर्श व्यक्ति) होते हैं। व्यक्तिगत अभिरूचियों में कपड़ों में रूचि रखना और अपने आप को दर्शनीय रखना शामिल है। व्यस्क व्यक्ति परिपक्व और सम्माननीय होना चाहता है तथा धन और धर्म के विषयों में परिस्थिति प्राप्त करना चाहता है। इस अवधि में सामाजिक कार्यकलाप पारिवारिक और व्यावसायिक उत्तरदायित्वों के कारण अधिकांशतया कम हो जाते हैं। यही वह समय होता है जब व्यक्तियों को अपने व्यावसायिक जीवन की योजना बनानी पड़ती है तथा व्यवसाय निर्धारित करना पड़ता है पुरुषों में अधिकांशतया सामाजिक गतिशीलता उनके अपने प्रयासों और परिश्रम के कारण होती है। जबकि महिलाओं में, सामाजिक गतिशीलता उनकी अपनी उपलब्धियों के कारण होती है जिससे सामाजिक सीढ़ी चढ़ते हैं अथवा वे क्योंकि उच्च वर्ग के परिवार में विवाह करने से भी वे सामाजिक सीढ़ी चढ़ जाती हैं।

व्यावसायिक समायोजन (Professional Adjustment) बहुत कठिन समय है। जिसमें व्यवसाय का चयन, अपने व्यवसाय में व्यवस्थापन और कार्य के पर्यावरण के अनुसार समायोजन करना शामिल है। व्यावसायिक समायोजन व्यक्तियों द्वारा की गई उपलब्धियों, उनके कार्यों में बारंबार होने वाले परिवर्तनों और व्यक्तियों द्वारा अनुभव की गई कार्य संतुष्टि में देखा जा सकता है।

इस अवधि में पारिवारिक समायोजन अत्यंत कठिन भी हो सकता है। पारिवारिक भूमिकाओं और उत्तरदायित्व में अनेक परिवर्तन होते हैं। वैवाहिक समायोजन (Marriage Adjustment) के लिए व्यक्ति को अपनी दिनचर्या में भी बदलाव लाने की आवश्यकता पड़ सकती है। कुछ मामलों में, जैसे विवाह की तैयारी की कमी, शीघ्र विवाह, विवाह के बारे में अव्यावहारिक और रोमानी (कल्पना प्रधान) विचार तथा भूमिका में बहुत अधिक परिवर्तन विवाह में अनेक समस्याएं उत्पन्न कर सकते हैं। अभिभावक बना भी दृष्टिकोणों, मूल्यों, भूमिकाओं और उत्तरदायित्वों में परिवर्तन पैदा कर सकता है। महिलाओं के नए परिवार में समायोजित होने के लिए प्रयास परिवर्तन करने पड़ते हैं। ऐसा तब होता है जब संयुक्त परिवार हो और बच्चों का आगमन हो। अनेक कारक पितृत्व/मातृत्व के समायोजन के नियंत्रित करते हैं जैसे गर्भावस्था और पितृत्व अभिभावकों की आयु, बालको का लिंग (Sex), अभिभावकों की आशा और बालकों के स्वभाव के प्रति दृष्टिकोण। विवाह में सफलता का आकलन सात मानदंडों से किया जा सकता है 'पति-पत्नी प्रसन्नता', स्नेहपूर्ण अभिभावक-बालक (संतान)', संबंध, बालकों का अच्छा समायोजन', 'मतभेदों को दूर करने की यांग्यता', 'वित्त की अच्छी देखरेख', 'भावनाएं', 'ससुराल-पक्ष के साथ समायोजन'। यह देखा जाना चाहिए कि पहले समय की अपेक्षा आजकल महिलाओं की पुरुषों में एकलपन स्वीकार्य है।

मध्य प्रौढ़ावस्था अथवा मध्यावस्था

मध्य प्रौढ़ावस्था अथवा मध्यावस्था चालीस वर्ष की आयु से आरंभ होकर पैंसठ वर्ष की आयु तक होती है। इस अवधि में शारीरिक और मनोवैज्ञानिक ह्रास देखा जाता है। मध्यावस्था कठिन समय हो सकता है तथा इस अवस्था का सफल समायोजन पूर्व की असस्थाओं में निर्धारित अनिवार्य आधार पर निर्भर करता है। यह आयु संक्रमण और तनाव की भंयकर अवधि कहलाती है। यह अवधि उपलब्धियों एवं मूल्यांकनों की अवधि कहलाती

है कभी-कभी य हकताहट और रिक्त नीड की अवधि होती है क्योंकि बच्चे बडे हो चुके होते हैं और उच्च अध्ययन अथवा रोजगार के लिए बाहर गए होते हैं या वे विवाहित होते हैं और अपना बसेरा अलग बसा लेते हैं। प्रौढा व्यक्ति अचानक अकेले हो जाते हैं औश्र अपने खाली समय का उपयोग करना नही जानते। रूपरंग (चेहरे) शरीरक्रियात्मक कार्यप्रणाली और कामुकता में शारीरिक परिवर्तन हो जाते हैं और इसके साथ समायोजन करना अत्यंत कठिन हो जाता है। महिलाओं में रजोनिवृत्ति परिवर्तन हो जाते हैं। क्योंकि एस्ट्रोजन (महिला हार्मोन) में कमी हो जाती है और मनोवैज्ञानिक तनाव हो जाता है। जबकि पुरुषों में शरीरक्रियात्मक और मनोवैज्ञानिक परिवर्तन होते हैं जे उनकी मनोवृत्ति, व्यवहार और स्व-मूल्यांकन को प्रभावित करते हैं

आज के समय में, मध्यावस्था के साथ समायोजन करने में सफलता जरण अर्थात बुढापे के चिह्नों को छिपाने में सफलतापूर्वक समर्थ होना तथ अपने आपको युवा और चुस्त रखने के रास्ते तलाशना है।

मध्यावस्था में मानसिक हास् आरम्भ होता है। धर्म में अभिरूचि में भी मध्यावस्था में बढ जाता है। इस होती है जिसमें कम मनोरंजनात्मक रूचियों के अतिरिक्त, अधेड व्यक्ति का परिवर्तन के प्रति रूझान होने की अपेक्षा व्यस्क (प्रौढ) के प्रति रूझान होता है। यह देखा जाता है। सामाजिक हित और कार्यकलाप सामसजिक-वर्ग परिस्थिति, लिंग और वैवाहिक परिस्थित अत्याधिका प्रभावित होते हैं।

उत्तर प्रौढावस्था

उत्तर प्रौढावस्था साठ वर्ष की आयु से आरंभ होती है और मृत्यु तक चलती है। इस अवस्था में मनोवैज्ञानिक गिरावट तेज हो जाती है। आधुनिक समय की चिकित्सा तकनीके और सही कपडों का चयन और साज-श्रृंगार करना अनेक पुरुषों और महिलाओं को ऐसा प्रतीत कराना, कार्य करना जैसा वे तब करते थे जब वे अधिक युवा थे। यह देखा गया कि व्यक्तियों में जरण से उनके प्रभाव में अंतकर आता है क्योंकि शारीरिक जरण मनोवैज्ञानिक जरण से पहले होता है। शारीरिक परिवर्तनों में चेहरा मोहरा, शारीरिक गठन में और विभिन्न आंतरिक शारीरिक प्रणालियों में परिवर्तन, विभिन्न शरीर क्रियात्मक कार्यप्रणाली में परिवर्तन, विभिन्न शरीरक्रियात्मक कार्यप्रणाली में परिवर्तन, संवेदी और यौन परिवर्तन शामिल है। गामक क्षमताओं (Motor ability) में परिवर्तन शक्ति और गति में परिवर्तन होते हैं तथा व्यक्ति को नई योग्यताएं प्राप्त करने में अधिक समय लगता है। इस अवस्था में व्यक्ति की मानसिक योग्यताओं में परिवर्तन होने के विभिन्न कारण है। इनमें से महत्वपूर्ण है पर्यावरणीय उद्दीपन (Environmental Stimulus) की कमी और मानसिक रूप से सतर्क रहने की प्रेरणा का अभाव। स्वास्थ्य और आर्थिक परिस्थिति का बिगड़ना, आवास और वैवाहिक परिस्थिति में परिवर्तन तथा मूल्यों में परिवर्तन जैसे विभिन्न कारणों से रूचियों में परिवर्तन होते है। वृद्धावस्था में स्वास्थ्य, आर्थिक और वैवाहित स्थिति में परिवर्तन आने से मनोरंजनात्मक कार्यकलापों में भी परिवर्तन आया है। वृद्ध कर्मचारी अनिवार्य सेवानिवृत्त, भाड़े के कार्यो, पेंशन योजना, सामाजिक अभिवृत्तियों, कर्मचारियों के लिंग और कार्य के स्वरूप द्वारा सीमित होते हैं। सेवानिवृत्ति के कारण उनकी भूमिकाएं, रूचियां, मूल्य और जीवन विन्यासों में परिवर्तन होता है। इस प्रकार आय में कमी और एकाकीपन हो जाता है। पति अथवा पत्नी की मृत्यु के कारण, समायोजन की समस्या फिर खड़ी हो जाती है। हमारे समाज में वृद्धों के लिए सर्वाधिक रहन-सहन की सामान्य वरूवस्थाएं है: वृद्ध दंपति अकेला रहता है, वृद्ध दंपति अपने विवाहित पुत्र एवं परिवार के साथ रहता है, वृद्ध विधवा अथवा विधुर विवाहित अपनी संतान के साथ रहते है। आजकल बूढे-बुजुर्ग वृद्धाश्रमों में रह रहे हैं।

इस अवस्था में विशेषरूप से समायोजन में कुछ समस्याएं आती है जो दूसरों पर शारीरिक और आर्थिक निर्भरता में वृद्धि, नए संबंध स्थापित करना, अपने खाली समय में नई रूचियों और कार्यकलापों में शामिल होना भी बढ गया है। जो बालक अब व्यस्क हो चुके होते हैं, उनके साथ परिपक्व ढंग से व्यवहार करने में भी समायोजन

करना पड़ता है। वृद्धों को और भी अधिक समायोजन करना पड़ता है क्योंकि इस अवस्था में उनकी निर्भरता के कारण उनका उत्पीड़न भी हो सकता है। धर्म में रूचि बढ़ जाती है, ऐसा मृत्यु की चिंता के कारण भी हो सकता है। इस अवस्था में सामान्य शरीरिक संकट रोग, शारीरिक बाधाएं, कुपोषण, दुर्घटनाएं हैं और व्यक्ति यौन सम्बंधों से वंचित हो जाता है।

1.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत मानव विकास के अर्थ तथा मानव विकास की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। मानव का विकास उसके जन्म से प्रारम्भ होकर, बाल्यावस्था, किशोरावस्था, वयस्क अवस्था से होते हुए वृद्धावस्था के अंतिम पड़ाव तक पहुंच जाता है।

1.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. मानव विकास से आपका क्या तात्पर्य है ?
2. मानव विकास की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन कीजिए।

1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. डीसिकों पी जॉन-द साइकोलोजी ऑफ लर्निंग एण्ड इन्स्ट्रक्शन, नई दिल्ली, 1968
2. गुप्ता, एस.पी., आधुनिक शिक्षा मनोविज्ञान, धारदा पब्लिकेशन, इलाहाबाद उत्तर प्रदेश
3. हॉल, सी.एस. एण्ड लिन्डजे, दि थ्योरीज ऑफ पर्सनैलिटी: बिले, न्यूयार्क 1957
4. मैस्लो, ए.एच., मोटिवेशन एण्ड पर्सनैलिटी, हारपर एण्ड रो, न्यूयार्क, 1954

शैशवावस्था एवं बाल्यावस्था

इकाई की रूपरेखा

- 2.0 उद्देश्य
- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 शिशु विकास की अवस्था
- 2.3 शैशवावस्था
- 2.4 बाल्यावस्था
- 2.5 बाल्यावस्था में शिक्षा का स्वरूप
- 2.6 सारांश
- 2.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप:

- शिशु विकास की अवस्था को जान सकेंगे।
- बाल्यावस्था तथा उसकी मुख्य विशेषताओं को जान सकेंगे।
- बाल्यावस्था में शिक्षा का स्वरूप को समझ सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

सामान्य रूप से मानव के विकास में शिशु अवस्था तथा बाल्यावस्था का बहुत महत्वपूर्ण योगदान है। बालक में इस अवस्था में विभिन्न आदतों, व्यवहार, रुचि एवं इच्छाओं के प्रतिरूपों का निर्माण होता है। बाल्यावस्था मानव के जीवन में व्यक्तित्व के निर्माण हेतु एक अत्यंत ही महत्वपूर्ण अवस्था है जो दूसरों पर अपना प्रभाव स्थापित करने में सहायक होती है।

2.2 शिशु विकास की अवस्था

शैशवावस्था मानव के जन्म से लेकर तीन वर्ष तक की अवधि होती है। यह अवस्था तीव्र वृद्धि और विकास से भी जुड़ी है। सामान्य तौर पर जन्म की प्रक्रिया तब आरंभ होती है जब गर्भस्थ शिशु तैयार होता है। इसकी चार अवस्थाएं हैं

- 1) ग्रीवा का विकास (Development of cervical)
- 2) शिशु का हिलना-डूलना एवं उत्पत्ति
- 3) नाल या नाभि-रज्जु (Umbilical cord) या अपरा (Placenta) का साव
- 4) गर्भाशय का संकुचन और मां अपरा (Placenta) का साव

नवजात शिशु अवधि (Neonatal Period) बालक का पहला महीना होता है। यह अवधि संक्रमण की अवधि (Period of transition) होती है। जन्म के समय शिशु का परिसंचरण (Infant's circulation) श्वसन (Respiration), जठरांत्र (Gastrointestinal) और तापमान नियंत्रण तंत्र मां से अलग हो जाते हैं। नवजात शिशु निद्रा, जागरूक अवस्था और क्रियाकलाप के बीच बारी-बारी से कार्य करते हैं। वे पर्याप्त समय सोते हैं। इस अवस्था में जो तीन वर्ष तक चलती है, यह देखा जाता है कि पहले वर्ष शिशु का शरीर बहुत तेजी से बढ़ता है। स्तनपान कराने (Breastfeeding) के बहुत अच्छे शरीरक्रियात्मक लाभ (Physiological benefits) हैं और यह मां और शिशु के बीच अटूट सम्बंध को बढ़ता है। संवेदी क्षमताएं (Sensing Capabilities) जन्म से ही मौजूद होती हैं और जीवन के पहले कुछ महीनों में तेजी से विकसित होती हैं। जीवन के पहले तीन महीनों के दौरान, शिशु अपने शारीरिक संचलनों अर्थात् गहियां (Body movements) पर नियंत्रण करना आरंभ कर देता है। गामक कौशल (Motor Skills) विकसित होता है तथा शिशु स्व-चलन (Infant self-renewal) करने का भी प्रयास करता है।

शारीरिक वृद्धि और विकास पूरी बचपनावस्था में मंद गति से धीरे-धीरे होते हैं तथा शरीर-क्रियात्मक कार्यों (क्रियाओं) का विकास तीव्र गति से होता है। पेशी-नियंत्रण (Muscle-control) सिर, बाजू और हाथ के कौशलों से आरंभ होता है। इस अवधि में, हम भाषा विकास भी देखते हैं। संप्रेषण (संचार) तब आरंभ होता है जब शिशु वह सब कुछ समझता है जब अन्य लोग उससे बातचीत कर रहे होते हैं और तब वे दूसरों के साथ भी संचार करते हैं। प्राक्-भाषाविज्ञान भाषण (Pre-linguistic speech) जो शब्दों से पहले होता है उसमें सेना, विलकना और नकल करने की आवाजें (mimic voices) शामिल हैं।

शिशु सामान्य तौर पर संकेतों का प्रयोग करते हैं। 10 महीने तक शिशु सार्थक भाषा समझना आरंभ कर देते हैं। शिशु 10 से 14 महीनों तक प्रथम शब्द आरंभ कर देता है। तीन वर्ष तक, व्याकरण और वाक्य-रचना (Syntax) भली-भांति विकसित हो जाते हैं। इस अवस्था में प्रारंभिक सामाजिक आधार महत्वपूर्ण होते हैं। क्योंकि शिशु सामाजिक स्थितियों में जिस प्रकार का व्यवहार प्रदर्शित करता है, वह उसके निजी और सामाजिक समायोजन (तालमेल) को प्रभावित करता है। ये प्रतिमान (Pattern) जीवन पर्यन्त बने रहते हैं। नैतिक विकास में अनुशासन की भूमिका मुख्यरूप से क्रमशः गलत व्यवहार के लिए दंड एवं स्वीकृत व्यवहार के लिए पुरस्कार के रूप में होती है। इस अवधि में यौन भूमिका विशेषता भी आरंभ होती है। मनोसामाजिक विकास जिसमें संवेग, स्वभाव और अभिभावकों के साथ पूर्व अनुभव भी शामिल है, उनके लिए आधारशिलाएं रखी जाती हैं।

यह अवस्था निम्नलिखित अनुक्रम में व्यक्ति की स्व.अवधारणा को भी विकसित करती है:

-शारीरिक स्व-मान्यता एवं स्व-जागरूकता

-आत्म-विवरण (Self-description) और स्व-मूल्यांकन, एवं

-गलत कार्य करने के प्रति संवेगात्मक प्रतिक्रिया

2.3 शैशवावस्था (Infancy)

शैशवावस्था के बारे में फ्रायड ,एडलर तथा ज़ूंग ने विशेष अध्ययन किया है और इस अवस्था के महत्व पर प्रकाश डाला है |

एडलर के अनुसार, “ बालक के जन्म के कुछ समय बाद ही यह निश्चित किया जा सकता है कि जीवन में उसका क्या स्थान है |”

क्रो व क्रो के अनुसार, “ यह अवस्था ही वह आधार है , जिस पर बालक के भावी जीवन का निर्माण किया जा सकता है |इस अवस्था में उसका जितना ही अधिक निरीक्षण और निर्देशन किया जा सकता है , उतना ही अधिक उत्तम विकास और जीवन होता है|”

स्टॉंग(Stoong) के अनुसार, “ जीवन के पहले दो वर्ष में बालक अपने भावी जीवन की नींव रखता है |यद्यपि परिवर्तन किसी भी आयु में हो सकते हैं तथापि प्रारंभिक जीवन में बनी हुई प्रवृत्तियाँ और प्रतिमान प्रायः स्थायी बने रहते हैं |”

शैशवावस्था की मुख्य विशेषताएं

शैशवावस्था के प्रारंभिक काल में बालक की शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति का उसके लिए सबसे अधिक महत्व होता है| इस अवस्था में मानसिक विकास के स्थूल लक्षण नहीं दिखाई देते | इस अवस्था की प्रमुख विशेषताएं हैं :-

1. शैशवावस्था में शिशु को अपने से बड़ों से सदैव प्रेम, स्नेह एवं सहानुभूति की अपेक्षा होती है |
2. शैशवावस्था में शिशु की अभिगम प्रक्रिया बहुत ही तीव्र होती है | वह अनेक नवीन बातों को शीघ्रता से सीख लेता है |
3. शैशवावस्था में शिशु में नक़ल या अनुकरण करने की प्रवृत्ति पायी जाती है| शिशु प्रायः अपने परिवार के सदस्यों अर्थात माता –पिता , भाई ,बहन जैसा व्यवहार करने की कोशिश करता है
4. शिशु में जिज्ञासा या कौतूहल की भावना बहुत अधिक होती है | शिशु में अपने आस –पास के वातावरण के बारे में जानने की बहुत तीव्र इच्छा होती है | वह कोई भी नवीन वस्तु देखने पर अपने परिवारजनों से उसके विषय में ‘क्या , क्यों और कैसे’ प्रकार के प्रश्न पूछता है |
5. शैशवावस्था में शिशु विभिन्न प्रकार के शब्दों और क्रियायों को बार –बार दोहराता है | उसे एक कार्य को बार बार दोहराने में आनंद आता है ,जैसे उसे बार –बार उछलने –कूदने तथा हँसने का मन करता है |
6. शैशवावस्था में शिशु प्रायः एकांत में खेलना अधिक पसंद करता है | वह अपने खिलौनों के साथ एकांत में उसी प्रकार से खेलता है और बातचीत करता है जिस प्रकार से उसके माता –पिता उससे करते हैं |वह अपने खिलौनों को गोद में लेकर कभी सुलाता है ,तो कभी उन्हें पचकारता है |

शैशवावस्था एवं सामाजिक विकास :- एक शिशु जब जन्म लेता है तो वह न तो समाजिक होता है ना ही असमाजिक |

क्रो व क्रो के अनुसार, “ जन्म के समय शिशु न तो समाजिक प्राणी होता है और न ही असमाजिक | परन्तु इस स्थिति में वह अधिक समयतक नहीं रहता |जैसे –जैसे शिशु का शारीरिक और मानसिक विकास होता जाता है , वैसे वैसे उसका सामाजिक विकास भी होता जाता है |”

वी . कुप्पुस्वामी के अनुसार, “ शिशुओं की सामाजिक अनुक्रियात्मकता का विकास दुग्धपान की स्थिति से ही होने लगता है |”

शिशु में सामाजिक प्रक्रियाएँ जन्म लेने के कुछ समय के बाद प्रारंभ होती हैं , जैसे एक महीने का बालक कमरे में किसी के प्रवेश करने तथा दूसरे व्यक्ति को देखकर रोना चिलाना बंद कर देता है |इसी प्रकार दूसरे महीने के मध्य में शिशु परिचित आकृतियों को देखकर खुश होता है |पांच माह का शिशु प्रसन्नता और क्रोध में अंतर समझने लगता है | जब शिशु एक वर्ष का होता है तो तो विभिन्न प्रकार के संवेगों वाली आकृतियों को पहचानने में समर्थ हो जाता है | बुहलर ने शिशुओं को उनकी अवस्था के अनुसार तीन रूपों में वर्गीकृत किया है :-

1. सामाजिक दृष्टि से अंधे :- ऐसे शिशु जो अपने आस पास दूसरों की उपस्थिति महसूस नहीं करपाते हैं |
2. सामाजिक दृष्टि से स्वाश्रित :- ऐसे शिशु जो दूसरों की उपस्थिति को महसूस करते हुए भी उन पर आश्रित न हो |
3. सामाजिक दृष्टि से आश्रित :- ऐसे शिशु जो अपने आस -पास के दूसरे लोगो की उपस्थिति को महसूस भी करते हैं और उनसे प्रभावित भी होते है |

दो वर्ष की आयु के बाद का शिशु का समाजिक व्यवहार अधिक परिपक्व हो जाता है | वह दूसरे शिशुओं के साथ बोलने लगता है , खेलने लगता है , तथा परस्पर सहायता करने व मांगने लगता है | शैशवावस्था में शिशु एकदम आत्म – केन्द्रित और स्वार्थी होता है और दूसरों को कुछ नहीं देना चाहता है | सामाजिक विकास के साथ साथ वह मिल बाँट कर खाता है और दूसरों के साथ सहयोग करने लगता है |

2.4 बाल्यावस्था (Childhood)

शिशु अवस्था के बाद बाल्यावस्था का आरम्भ होता है। यह अवस्था, बालक के व्यक्तित्व के निर्माण की होती है। बालक में इस अवस्था में विभिन्न आदतों, व्यवहार, रुचि एवं इच्छाओं के प्रतिरूपों का निर्माण होता है। ब्लेयर, जोन्स एवं सिम्पसन के अनुसार - “शैक्षिक दृष्टिकोण से जीवन चक्र में बाल्यावस्था से अधिक कोई महत्वपूर्ण अवस्था नहीं है। जो शिक्षक इस अवस्था के बालकों को शिक्षा देते है, उन्हें बालकों की, उनकी आधारभूत आवश्यकताओं की, उनके समस्याओं एवं उनकी परिस्थितियों की पूर्ण जानकारी होनी चाहिए जो उनके व्यवहार को रूपान्तरित और परिवर्तित करती है।”

कोल व ब्रूस ने बाल्यावस्था को जीवन का ‘अनोखा काल’ बताते हुए लिखा है-“वास्तव में माता-पिता के लिए बाल-विकास की इस अवस्था को समझना कठिन है।”

इस अवस्था को समझना कठिन क्यों है ? कुप्स्वामी के अनुसार, इस अवस्था में बालक में अनेक अनोखे परिवर्तन होते हैं, उदाहरणार्थ, 6 वर्ष की आयु में बालक का स्वभाव बहुत उग्र होता है, वह लगभग सब बातों का पश्चात् 'न' या 'नहीं' में देता है। 7 वर्ष की आयु में वह उदासीन होता है और अकेला रहना पसन्द करता है। 8 वर्ष की आयु में उसमें अन्य बालकों में सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने की भावना बहुत प्रबल होती है। 9 वर्ष से 12 वर्ष तक की आयु में विद्यालय में उसके लिए कोई आकर्षण नहीं रह जाता है। वह कोई नियमित कार्य न करके, कोई महान और रोमांचकारी कार्य करना चाहता है।

पूर्व बाल्यावस्था (Pre-Childhood)

पूर्व बाल्यावस्था तीन से छह वर्ष तक रहती है। इसे विभिन्न नामों से पुकारा जाता है जैसे खिलौना आयु, विद्यालय पूर्व अवस्था (Pre School Stage), कष्टप्रद अवस्था (Annoying condition) अथवा टोलीपूर्व आयु (Pre-Peer Age)/पूर्व बाल्यावस्था में शारीरिक विकास मंद गति से आगे बढ़ता है तथा शरीर-क्रियात्मक आदतें जो बाल्यावस्था में शुरू हुई थीं, वे इस अवस्था में स्थायी हो जाती हैं। यह अवधि कौशल प्राप्त करने वाली अवधि होती है क्योंकि बालक सरलता से दोहराता है और कौशल सीखता है। भाषा एवं बोध (Language and Perception) का विकास होने लगता है। संवेगात्मक विकास वृद्धि, लिंग, पारिवारिक पृष्ठभूमि और बालक के पालन-पोषण के अनुसार होता है जिन्में व्यक्ति द्वारा अनुभव किया जाता है। खेल बालक के सर्वांगीण विकास के लिए महत्वपूर्ण हैं खेल बालक द्वारा अर्जित किए गए कौशलों, अन्य समूह-साथियों (other group-mates) के बीच उनकी लोकप्रियता तथा उनके परिवारों को सामाजिक-आर्थिक परिस्थिति (Socio-economic situation) के द्वारा प्रभावित है। अभिभावक, साथी और विभिन्न पारिवारिक संबंध बालक की समाजीकरण प्रक्रिया (Socialization process) में तथा स्व-अवधारण विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। अभिभावक अनुशासन, शिक्षण के तरीकों, आत्म-नियंत्रण तथा स्वीकार्य व्यवहार के माध्यम से बालकों के व्यवहार को प्रभावित करते हैं।

पश्चात् बाल्यावस्था

पश्चात् बाल्यावस्था छह वर्ष से बारह वर्ष तक होती है। यह अवधि उस अवधि से पहले होती है जब बालक यौनरूप से परिपक्व होती है। इस अवधि में शारीरिक वृद्धि अपेक्षाकृत समान गति पर होती है तथा स्वास्थ्य, पोषण, प्रतिरक्षीकरण (immunization), काम वासना और बुद्धि से प्रभावित होती है। पश्चात् बाल्यावस्था में विकसित हुए कौशलों को चार समूहों: स्व-सहायता कौशलों, सामाजिक-सहायता कौशलों, विद्यालय कौशलों और खेल कौशलों में वर्गीकृत किया जा सकता है। वाक्य शक्ति (शब्द) उच्चारण, शब्दावली, वाक्य संरचना के सभी क्षेत्रों में तेजी से सुधार आता है।

बड़े बालक अपने संवेगों की प्रत्येक अभिव्यक्ति को नियंत्रित करने तथा सामाजिक दबावों से उत्पन्न संवेगों को दूर करने के लिए संवेगात्मक शांति (emotional peace) का प्रयोग करना सीखते हैं। बड़े बालक अपने साथियों के साथ क्रियाकलापों में रुचि रखना चाहते हैं। ये बालक अभिभावक मानदंडों को प्रायः अस्वीकार करते हैं और विपरीत लिंगी व्यक्तियों के प्रति विरोध पूर्ण दृष्टिकोण विकसित करते हैं। बुद्धि और अधिगम अवसरों के परिणामस्वरूप अवधारणाओं की तेजी से जानकारी होती है।

इस अवधि में बालक जिन नैतिक संहिताओं का विकास होता है, वे संबंधित समूहों के नैतिक मानदंडों द्वारा प्रभावित होती हैं। बड़े बालकों की रुचियां छोटे बालकों की रुचियों से अधिक व्यापक होती है और अनेक नए विषय भी शामिल होते हैं, जैसे वस्त्र, मानव, शरीर, लिंग, विद्यालय, भावी व्यवसाय, प्रतिष्ठा प्रतीक और स्वायत्ता।

पश्चात् बाल्यावस्था में स्त्री-पुरुष भूमिका बालकों के रूप-रंग, व्यवहार, आकांक्षाओं, उपलब्धियों, रुचियों विपरीत लिंग के व्यक्तियों के प्रति दृष्टिकोण और स्वमूल्यांकन को प्रभावित करती है।

बाल्यावस्था की मुख्य विशेषताएं :-

1.शारीरिक व मानसिक स्थिरता:-

6 या 7 वर्ष की आयु के बाद बालक के शारीरिक और मानसिक विकास में स्थिरता आ जाती है। वह स्थिरता उसकी शारीरिक व मानसिक शक्तियों को दृढ़ता प्रदान करती है। फलस्वरूप, उसका मस्तिष्क परिपक्व-सा और वह स्वयं वयस्क -सा-जान पड़ता है। इसलिए राँस ने बाल्यावस्था को 'मिथ्या-परिपक्वता' का काल बताते हुए लिखा है-“शारीरिक और मानसिक स्थिरता बाल्यावस्था की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है।”

बाल्यावस्था के विकास का महत्व अत्यधिक है। इस अवस्था में विकास को अध्ययन अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों को प्रकट करता है। कैरल के अनुसार- “बालक के शारीरिक विकास और उसके सामान्य व्यवहार का सह-संबंध इतना महत्वपूर्ण होता है कि यदि हम समझना चाहें कि भिन्न-भिन्न बालकों में क्या समानतायें हैं, क्या भिन्नतायें हैं, आयु वृद्धि के साथ व्यक्ति में क्या-क्या परिवर्तन होते हैं तो हमें बालक के शारीरिक विकास का अध्ययन करना होगा।”

2.मानसिक योग्यताओं में वृद्धि:-

बाल्यावस्था में बालक की मानसिक योग्यताओं में निरन्तर वृद्धि होती है। उसकी संवेदना और प्रत्यक्षीकरण की शक्तियों में वृद्धि होती है। वह विभिन्न बातों के बारे में तर्क और विचार करने लगता है। वह साधारण बातों पर अधिक देर तक अपने ध्यान को केन्द्रित कर सकता है। उसमें अपने पूर्व-अनुभवों को स्मरण रखने की योग्यता उत्पन्न हो जाती है।

3.जिज्ञासा की प्रबलता:-

बालक की जिज्ञासा विशेष रूप से प्रबल होती है। वह जिन वस्तुओं के सम्पर्क में आता है, उनके बारे में प्रश्न पूछ कर हर तरह की जानकारी प्राप्त करना चाहता है। उसके ये प्रश्न शैशवावस्था के साधारण प्रश्नों से भिन्न होते हैं। अब वह शिशु के समान यह नहीं पूछता है-‘वह क्या है?’ इसके विपरीत, वह पूछता है-‘यह ऐसे क्यों है?’ ‘यह ऐसे कैसे हुआ है?’

4.वास्तविक जगत् से सम्बन्ध:-

इस अवस्था में बालक, शैशवावस्था के काल्पनिक जगत् का परित्याग करके वास्तविक जगत् में प्रवेश करता है। वह उसकी प्रत्येक वस्तु से आकर्षित होकर उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। स्ट्रैंग के शब्दों में-“बालक अपने को अति विशाल संसार में पाता है और उसके बारे में जल्दी-से-जल्दी जानकारी प्राप्त करना चाहता है।”

5.रचनात्मक कार्यों में आनन्द:-

बालक को रचनात्मक कार्यों में विशेष आनन्द आता है। वह साधारणतः घर से बाहर किसी प्रकार का कार्य करना चाहता है, जैसे- बगीचे में काम करना या औजारों से लकड़ी की वस्तुएं बनाना: उसके विपरीत, बालिका घर में ही कोई-न-कोई कार्य करना चाहती है: जैसे-सीना, पिरोना या कढ़ाई करना।

6. सामाजिक गुणों का विकास:-

बालक, विद्यालय के छात्रों और समूह के सदस्यों के साथ पर्याप्त समय व्यतीत करता है। अतः उसमें अनेक सामाजिक गुणों का विकास होता है, जैसे सहयोग, सदभावना, सहनशीलता, आज्ञाकारिता आदि।

7. नैतिक गुणों का विकास:-

इस अवस्था के आरम्भ में ही बालक में नैतिक गुणों का विकास होने लगता है। स्टैग के मतानुसार-“छः, सात और आठ वर्ष के बालकों में अच्छे-बुरे के ज्ञान का एवं न्यायपूर्ण व्यवहार, ईमानदारी और सामाजिक मूल्यों की भावना का विकास होने लगता है।”

8. बहिर्मुखी व्यक्तित्व का विकास:-

शैशवावस्था में बालक का व्यक्तित्व अन्तर्मुखी होता है, क्योंकि वह एकान्तप्रिय और केवल अपने में रूचि लेने वाला होता है। इसके विपरीत, बाल्यावस्था में उसका व्यक्तित्व बहिर्मुखी हो जाता है, क्योंकि वाह्य जगत में उसकी रूचि उत्पन्न हो जाती है। अतः वह अन्य व्यक्तियों, वस्तुओं और कार्यों का आधिक से अधिक परिचय प्राप्त करना चाहता है।

9. संवेगों का दमन व प्रदर्शन :-

बालक अपने संवेगों पर अधिकार रखना एवं अच्छी और बुरी भावनाओं में अंतर करना जान जाता है। वह उन भावनाओं का दमन करता है, जिनको उसके माता-पिता और बड़े लोग पसन्द नहीं करते हैं, जैसे-काम संबंधी भावनाएँ।

10. संग्रह करने की प्रवृत्ति:-

बाल्यावस्था में बालकों और बालिकाओं में संग्रह करने की प्रवृत्ति बहुत ज्यादा पाई जाती है। बालक विशेष रूप से कांच की गोलियां, टिकटों, मशीनों के भागों और पत्थर के टुकड़ों का संचय करते हैं। बालिकाओं में चित्रों, खिलौनों, गुडियों और कपड़ों के टुकड़ों का संग्रह करने की प्रवृत्ति पाई जाती है।

11. निरुद्देश्य भ्रमण की प्रवृत्ति:-

बालक में बिना किसी उद्देश्य के इधर-उधर घूमने की प्रवृत्ति बहुत अधिक होती है। मनोवैज्ञानिक बर्ट ने अपने अध्ययनों के आधार पर बताया कि लगभग 9 वर्ष के बालकों में आवारा घूमने, बिना छुट्टी लिये विद्यालय से भागने और आलस्यपूर्ण जीवन व्यतीत करने की आदतें सामान्य रूप से पाई जाती हैं।

12. काम-प्रवृत्ति की न्यूनता:-

बालक में काम-प्रवृत्ति की न्यूनता होती है। वह अपना अधिकांश समय मिलने-जुलने, खेलने-कूदने और पढ़ने-लिखने में व्यतीत करता है। अतः वह बहुत ही कम अवसरों पर अपनी काम-प्रवृत्ति का प्रदर्शन करता है।

13. सामूहिक प्रवृत्ति की प्रबलता:-

बालक के सामूहिक प्रवृत्ति बहुत प्रबल होती है। वह अपना अधिक-से-अधिक समय दूसरे बालकों के साथ व्यतीत करना चाहता है। रॉस के अनुसार,-“बालक प्रायः अनिवार्य रूप से किसी न किसी समूह का सदस्य हो जाता है, जो अच्छे खेल खेलने और ऐसे कार्य करने के लिए नियमित रूप से एकत्र होता है, जिनके बारे में बड़ी आयु के लोगों को कुछ भी नहीं बताया जाता है।”

14. सामूहिक खेलों में रूचि:-

बालक को सामूहिक खेलों में अत्याधिक रूचि होती है। वह 6 या 7 वर्ष की आयु में छोटे समूहों में और बहुत काफी समय तक खेलता है। खेल के समय बालिकाओं की अपेक्षा बालकों में झगड़े अधिक होते हैं। 11 या 12 वर्ष की आयु में बालक दलीय खेलों में भाग लेने लगता है। स्टेग के अनुसार-“ऐसा शायद ही कोई खेल हो, जिसे दस वर्ष के बालक न खेलते हों।”

15. रूचियों में परिवर्तन:-

बालक की रूचियों में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। वे स्थायी रूप धारण न करके वातावरण में परिवर्तन के साथ परिवर्तित होती रहती हैं। कोल एवं ब्रूस के अनुसार-“6 से 12 वर्ष की अवधि की एक अपूर्व विशेषता है - मानसिक रूचियों में स्पष्ट परिवर्तन।”

2.5 बाल्यावस्था में शिक्षा का स्वरूप

बाल्यावस्था शैक्षिक दृष्टि से बालक के निर्माण की अवस्था है। इस अवस्था में बालक अपना समूह अलग बनाने लगते हैं। इसे चुस्ती की आयु भी कहा गया है। इस अवस्था में शिक्षा का स्वरूप इस प्रकार होता है-

ब्लेयर, जोन्स व सिम्पसन ने लिखा है, “बाल्यावस्था वह समय है, जब व्यक्ति के आधारभूत दृष्टिकोणों, मूल्यों और आदर्शों का बहुत सीमा तक निर्माण होता है।”

जिस निर्माण की ओर ऊपर संकेत किया गया है, उसका उत्तरदायित्व बालक के शिक्षक, माता-पिता और समाज पर है। अतः उसकी शिक्षा का स्वरूप निश्चित करते समय, उन्हें निम्नांकित बातों को ध्यान में रखना चाहिए-

1.भाषा के ज्ञान पर बल:-

स्टेग के अनुसार-“इस अवस्था में बालकों की भाषा में बहुत रूचि होती है।” अतः इस बात पर बल दिया जाना आवश्यक है कि बालक, भाषा का अधिक-से-अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकें।

2.उपयुक्त विषयों का चुनाव:-

बालक के लिए कुछ ऐसे विषयों का अध्ययन आवश्यक है, जो उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें और उसके लिए लाभप्रद भी हों। इस विचार से अग्रलिखित विषयों का चुनाव किया जाना चाहिए-भाषा, अंकगणित, विज्ञान, सामाजिक अध्ययन, ड्राईंग, चित्रकला, सुलेख, पत्र लेखन और निबन्ध रचना।

3.रोचक विषय-सामग्री:-

बालकों की रूचियों में विभिन्नता और परिवर्तनशीलता होती है। अतः उसकी पुस्तकों की विषय-सामग्री में रोचकता और विभिन्नता होनी चाहिए। इस दृष्टिकोण से विषय-सामग्री का सम्बन्ध अग्रलिखित से होना चाहिए-पद्य, हास्य, विनोद, नाटक, वार्तालाप, वीर पुरुष, साहसी कार्य और आश्चर्यजनक बातें।

4.पाठ्य-विषय व शिक्षण-विधि में परिवर्तन:-

इस अवस्था में बालक की रूचियों में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। अतः पाठ्य-विषय और शिक्षण-विधि में उसकी रूचियों के अनुसार परिवर्तन किया जाना आवश्यक है। ऐसा न करने से उसमें शिक्षण के प्रति कोई आकर्षण नहीं रह जाता है। फलस्वरूप, उसकी मानसिक प्रगति रूक जाती है।

5. जिज्ञासा की सन्तुष्टि:-

बालक में जिज्ञासा की प्रवृत्ति होती है। अतः उसे दी जाने वाली शिक्षा का स्वरूप ऐसा होना चाहिए, जिससे उसकी इस प्रवृत्ति की तुष्टि हो।

6. सामूहिक प्रवृत्ति की तुष्टि:-

बालक में समूह में रहने की प्रबल प्रवृत्ति होती है। वह अन्य बालकों से मिलना-जुलना और उनके साथ कार्य करना या खेलना चाहता है। उसे इन सब बातों का अवसर देने के लिए विद्यालय में सामूहिक कार्यों और सामूहिक खेलों का उचित आयोजन किया जाना चाहिए। कोलेसनिक के अनुसार “सामूहिक खेल और शारीरिक व्यायाम-प्राथमिक विद्यालय के पाठ्यक्रम के अभिन्न अंग होने चाहिए।”

7. रचनात्मक कार्यों की व्यवस्था:-

बालक की रचनात्मक कार्यों में विशेष रूचि होती है। अतः विद्यालय में विभिन्न प्रकार के रचनात्मक कार्यों की व्यवस्था होनी चाहिए।

8. पाठ्यक्रम-सहगामी क्रियाओं की व्यवस्था:-

बालक की विभिन्न मानसिक रूचियों को संतुष्ट करके उसकी सुप्त शक्तियों का अधिकतम विकास किया जा सकता है। इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए विद्यालय में अधिक से अधिक पाठ्यक्रम - सहगामी क्रियाओं का संचालन किया जाना चाहिए।

9. पर्यटन व स्काउटिंग की व्यवस्था:-

लगभग 9 वर्ष की आयु में बालक में निरुद्देष्ट इधर-उधर घूमने की प्रवृत्ति होती है। उसकी इस प्रवृत्ति को संतुष्ट करने के लिए पर्यटन और स्काउटिंग को उसकी शिक्षा का अभिन्न अंग बनाया जाना चाहिए।

10. संचय-प्रवृत्ति को प्रोत्साहन:-

बालक में संचय करने की प्रवृत्ति होती है। उसे जो भी वस्तु अच्छी लगती है, उसी का वह संचय कर लेता है। उसके लिए माता-पिता और शिक्षक का कर्तव्य है कि उसे शिक्षाप्रद वस्तुओं का संचय करने के लिए प्रोत्साहित करें।

11. संवेगों के प्रदर्शन का अवसर:-

कोल एवं ब्रू ने बाल्यावस्था को “संवेगात्मक विकास का अनोखा काल” माना है। यह विकास तभी सम्भव है, जब बालक के संवेगों का दमन न किया जाय, क्योंकि ऐसा करने से उसमें भावना-ग्रन्थियों का निर्माण हो जाता है। अतः स्टेग का परामर्श है - “बालकों को सामाजिक स्वीकृति-प्राप्त संवेगों का दमन करने के बजाय तृप्त करने में सहायता दी जानी चाहिए, क्योंकि संवेगात्मक भावना और प्रदर्शन उनके सम्पूर्ण जीवन का आधार होता है।”

12. सामाजिक गुणों का विकास:-

किर्कपैट्रिक ने बाल्यावस्था को “प्रतिद्वन्दात्मक समाजीकरण” का काल माना है। अतः विद्यालय में ऐसी क्रियाओं का अनिवार्य रूप से संगठन किया जाना चाहिए, जिनमें भाग लेकर बालक में अनुशासन, आत्म-नियंत्रण, सहानुभूति, प्रतिस्पर्धा, सहयोग आदि सामाजिक गुणों का अधिकतम विकास हो।

13. नैतिक शिक्षा:-

पियाजे ने अपने अध्ययनों के आधार पर बताया है कि लगभग 8 वर्ष का बालक अपने नैतिक मूल्यों का निर्माण और समाज के नैतिक नियमों में विश्वास करने लगता है। उसे इन मूल्यों का उचित निर्माण और इन नियमों में दृढ़ विश्वास रखने के लिए नियमित रूप से नैतिक शिक्षा दी जानी चाहिए। कोलेसनिक का मत है, -“बालक को आनन्द प्रदान करने वाली सरल कहानियों द्वारा नैतिक शिक्षा दी जानी चाहिए।”

14. क्रिया व खेल द्वारा शिक्षा:-

सभी शिक्षाशास्त्री बालक की स्वाभाविक क्रियाशीलता और खेल-प्रवृत्ति में विश्वास करते हैं। अतः उसकी शिक्षा का स्वरूप ऐसा होना चाहिए, जिससे वह स्वयं-क्रिया और खेल द्वारा ज्ञान का अर्जन करे।

15. प्रेम व सहानुभूति पर आधारित शिक्षा:-

बालक कठोर अनुशासन पसन्द नहीं करता है। वह शारीरिक दण्ड, बल-प्रयोग और डाट-डपट से घृणा करता है। वह उपदेश नहीं सुनना चाहता है। वह धमकियों की चिन्ता नहीं करता है। अतः उसकी शिक्षा इनमें से किसी पर आधारित न होकर प्रेम और सहानुभूति पर आधारित होनी चाहिए।

2.5 सारांश

सारांश के रूप में प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत शिशु तथा बाल्यावस्था के विभिन्न स्वरूपों को जानने का प्रयास किया गया है। मनुष्य के जीवन में यह दोनों ही अवस्थाएं बहुत महत्वपूर्ण हैं क्योंकि यह दोनों ही मनुष्य के तीव्र वृद्धि और विकास से भी जुड़ी अवस्थाएं हैं। फ्रायड और उसके अनुयायियों ने बाल्यावस्था को बालक का निर्माणकारी काल मानकर इस अवस्था को अत्याधिक महत्व दिया है। उनका कहना है कि इस अवस्था में बालक जिन वैयक्तिक, सामाजिक और शिक्षा-सम्बन्धी आदतों एवं व्यवहार के प्रतिमानों का निर्माण कर लेता है, उनको रूपान्तरित करना बहुत कठिन हो जाता है। इस दृष्टि से प्राथमिक शिक्षा प्रदान करने वाले शिक्षकों पर बालकों का निर्माण करने का महान उत्तरदायित्व है। लगभग ऐसे ही विचारों को व्यक्त करते हुए ब्लेयर, जोन्स व सिम्पसन ने लिखा है कि-“शैक्षिक दृष्टिकोण से जीवन-चक्र में बाल्यावस्था से अधिक महत्वपूर्ण और कोई अवस्था नहीं है। जो अध्यापक इस अवस्था के बालकों को शिक्षा देते हैं, उन्हें बालकों का-उनकी आधारभूत आवश्यकताओं का, उनकी समस्याओं का और उन परिस्थितियों का पूर्व ज्ञान होना चाहिए, जो उनके व्यवहार को रूपान्तरित और परिवर्तित करती है।”

2.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. शिशु विकास की चारों अवस्थाओं को समझाइए।
2. बाल्यावस्था से आपका क्या तात्पर्य है ?
3. बाल्यावस्था में शिक्षा का स्वरूप पर प्रकाश डालिए।

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. एडलर, ए0, प्राब्लम्स ऑफ न्यूरोसिस, हारपर एण्ड रो न्यूयार्क, 1964
2. कोलमैन, जूल्स वी., साइकोथेराप्यूटिक प्रिन्सिपल्स इन केसवर्क इंटरव्यूक अमेरिकन जर्नल ऑफ साइक्याट्री, 1951

3. आलपोर्ट, एफ.एच., सोशल साइकालोजी, हघटन मिफलिन कं0 वास्टन, 1925

किशोरावस्था

इकाई की रूपरेखा

- 3.0 उद्देश्य
- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 किशोरावस्था
- 3.3 किशोरावस्था के विकास के सिद्धान्त
- 3.4 किशोरावस्था की मुख्य विशेषताएँ
- 3.5 किशोर की व्यवहार-प्रवृत्तियाँ
- 3.6 यौवनारंभ
- 3.7 सारांश
- 3.8 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 3.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप:

- किशोरावस्था के विकास के सिद्धान्तों से सम्बन्धित तथ्य की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- किशोरावस्था की मुख्य विशेषताओं तथा उसकी व्यवहार-प्रवृत्तियों को जान सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

सामान्य रूप से व्यक्तित्व का विकास गर्भधारण की अवस्था से ही प्रारम्भ हो जाता है। बालक जब किशोरावस्था में प्रवेश करता है तब वह कुछ-कुछ परिपक्व होने लगता है। यह समय उसके व्यक्तित्व के विकास के लिये बहुत ही महत्वपूर्ण होता है। परिपक्वता आने के साथ-साथ बालक के व्यक्तित्व में विभिन्न प्रकार के शारीरिक व मानसिक बदलाव होते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि व्यक्तित्व न तो पूर्णतः मानसिक या मनोवैज्ञानिक है और न तो पूर्णतः शारीरिक ही है। व्यक्तित्व इन दोनों तरह के पक्षों का मिश्रण है।

3.2 यौवनारम्भ या किशोरावस्था

बाल्यावस्था के समापन अर्थात् 13 वर्ष की आयु से किशोरावस्था की प्रारम्भिक अवस्था का आरम्भ होता है जिसे हम यौवनावस्था भी कहते हैं। इस अवस्था को तूफान एवं संवेगों की अवस्था कहा गया है। हैडो कमेटी की रिपोर्ट में कहा गया है-11-12 वर्ष की आयु में बालक की नसों में ज्वार उठना आरम्भ होता है, इसे किशोरावस्था

के नाम से पुकारा जाता है। यदि इस ज्वार का बाढ के समय ही उपयोग कर लिया जाय एवं इसकी शक्ति और धारा के साथ नई यात्रा आरम्भ की जाय तो सफलता प्राप्त की जा सकती है।

जरशील्ड के शब्दों में 'किशोरावस्था वह समय है जिसमें विचारशील व्यक्ति बाल्यावस्था से परिपक्वता की ओर संक्रमण करता है।'

स्टेनले हॉल के अनुसार- 'किशोरावस्था, बड़े संघर्ष, तनाव तूफान तथा विरोध की अवस्था है।'

ब्लेयर, जोन्स एवं सिम्पसन के विचारानुसार, - 'किशोरावस्था प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में वह काल है, जो बाल्यावस्था के अन्त में आरम्भ होता है और प्रौढावस्था के आरम्भ में समाप्त होता है।' इस अवस्था के आरम्भ होने की आयु, लिंग, प्रजाति, जलवायु, संस्कृति, व्यक्ति के स्वास्थ्य आदि पर निर्भर करती है। सामान्यतः बालकों की किशोरावस्था लगभग 13 वर्ष की आयु में और बालिकाओं की लगभग 12 वर्ष की आयु में आरम्भ हो जाती है। भारत में यह आयु पश्चिम के ठण्डे देशों की अपेक्षा एक वर्ष पहले आरम्भ हो जाती है।

3.3 किशोरावस्था के विकास के सिद्धान्त

किशोरावस्था में बालकों और बालिकाओं में क्रान्तिकारी शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और संवेगात्मक परिवर्तन होते हैं। इन परिवर्तनों के सम्बन्ध में दो सिद्धान्त प्रचलित हैं, यथा-

1. आकस्मिक विकास का सिद्धान्त:- इस सिद्धान्त का समर्थक स्टेनले हॉल है। उसने 1904 में अपनी 'एडोलेसेन्स' नामक पुस्तक प्रकाशित की। उसमें उसने लिखा है कि किशोर में जो भी परिवर्तन दिखाई देते हैं, वे एकदम होते हैं और उनका पूर्व अवस्थाओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। स्टेनले हॉल का मत है, - 'किशोर में जो शारीरिक, मानसिक और संवेगात्मक परिवर्तन होते हैं, वे अकस्मात् होते हैं।'

2. क्रमिक विकास का सिद्धान्त:- इस सिद्धान्त के समर्थकों में किंग, थार्नडाइक और हालिंगवर्थ प्रमुख हैं। इन विद्वानों का मत है कि किशोरावस्था में शारीरिक, मानसिक एवं संवेगात्मक परिवर्तन निरन्तर और क्रमशः होते हैं। इस सम्बन्ध में किंग ने लिखा है, - 'जिस प्रकार एक ऋतु का आगमन दूसरी ऋतु के अन्त में होता है, पर जिस प्रकार पहली ऋतु में ही दूसरी ऋतु के आगमन के चिन्ह दिखाई देने लगते हैं, उसी प्रकार बाल्यावस्था और किशोरावस्था एक-दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं।'

किशोरावस्था : जीवन का सबसे कठिन काल है किशोरावस्था वह समय जिसमें किशोर अपने को व्यस्क समझता है और व्यस्क उसे बालक समझते हैं। वयसंधि की इस अवस्था में किशोर अनेक बुराइयों में पड़ जाता है।

ई. ए. किर्कपैट्रिक का कथन है, - 'इस बात पर कोई मतभेद नहीं हो सकता है कि किशोरावस्था जीवन का सबसे कठिन काल है।' इस कथन की पुष्टि में निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं-

1 इस अवस्था में अपराधी-प्रवृत्ति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है और नशीली वस्तुओं का प्रयोग आरम्भ हो जाता है।

2 इस अवस्था में समायोजन न कर सकने के कारण मृत्यु दर और मानसिक रोगों की संख्या अन्य अवस्थाओं की तुलना में बहुत अधिक होती है।

3 इस अवस्था में किशोर के आवेगों और संवेगों में इतनी परिवर्तनशीलता होती है कि वह प्रायः विरोधी व्यवहार करता जिससे उसे समझना कठिन हो जाता है।

4 इस अवस्था में किशोर अपने मूल्यों, आदर्शों और संवेगों में संघर्ष का अनुभव करता है, जिसके फलस्वरूप वह अपने को कभी-कभी द्विविधापूर्ण स्थिति में पाता है।

5 इस अवस्था में किशोर, बाल्यावस्था और प्रौढावस्था-दोनों अवस्थाओं में रहता है। अतः उसे न तो बालक समझा जाता है और न प्रौढ।

6 इस अवस्था में किशोर का शारीरिक विकास इतनी तीव्र गति से होता है कि उसमें क्रोध, घृणा, चिडचिडापन, उदासीनता आदि दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं।

7 इस अवस्था में किशोर का पारिवारिक जीवन कष्टमय होता है, क्योंकि स्वतंत्रता का इच्छुक होने पर भी उसे स्वतंत्रता नहीं मिलती है और उससे बड़ों की आज्ञा मानने की आशा की जाती है।

8 इस अवस्था में किशोर के संवेगों, रुचियों, भावनाओं, दृष्टिकोण आदि में इतनी अधिक परिवर्तनशीलता और अस्थिरता होती है, जितनी उसमें पहले कभी नहीं थी।

9 इस अवस्था में किशोर में अनेक अप्रिय बातें होती हैं, जैसे- उदण्डता, कठोरता, भुक्खडपन, पशुओं के प्रति निश्ठुरता, आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्ति, गन्दगी और अवयवस्थाओं की आदतें एवं कल्पना और दिवास्वप्नों में विचरण।

10 इस अवस्था में किशोर को अनेक जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ता है, जैसे- अपनी आयु के बालकों और बालिकाओं से नये संबंध स्थापित करना, माता-पिता के नियंत्रण से मुक्त होकर स्वतंत्र जीवन व्यतीत करने की ईच्छा करना, योग्य नागरिक बनने के लिए उचित कुशलताओं को प्राप्त करना, जीवन के प्रति निश्चित दृष्टिकोण का निर्माण करना एवं विवाह, पारिवारिक जीवन और भावी व्यवसाय के लिए तैयारी करना।

3.4 किशोरावस्था की मुख्य विशेषताएं

किशोरावस्था को दवाब, तनाव एवं तूफान की अवस्था माना गया है। इस अवस्था की विशेषताओं को एक शब्द 'परिवर्तन' में व्यक्त किया जा सकता है।

बिग व हण्ट के शब्दों में - "किशोरावस्था की विशेषताओं को सर्वोत्तम रूप से व्यक्त करने वाला एक शब्द है- परिवर्तन- शारीरिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक होता है।"

जिन परिवर्तनों की ओर ऊपर संकेत किया गया है, उनसे सम्बन्धित विशेषताएं निम्नांकित हैं:-

1. शारीरिक विकास:- किशोरावस्था को शारीरिक विकास का सर्वश्रेष्ठ काल माना जाता है। इस काल में किशोर के शरीर में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन होते हैं, जैसे- भार और लम्बाई में तीव्र वृद्धि, मासपेशियों और शारीरिक ढांचे में दृढता, किशोर में दाढ़ी और मूँछ की रोमावलियों एवं किशोरियों में प्रथम मासिक स्राव के दर्शन। कोलेसनिक का कथन है, - "किशोरो और किशोरियों - दोनों को अपने-अपने शरीर और स्वास्थ्य की विशेष चिन्ता रहती है। किशोरों के लिए सबल, स्वस्थ और उत्साही बनना एवं किशोरियों के लिए अपनी आकृति को नारी जातीय आकर्षण प्रदान करना महत्वपूर्ण होता है।"

2. मानसिक विकास:- किशोर के मस्तिष्क का लगभग सभी दिशाओं में विकास होता है। उसमें विशेष रूप से अग्रलिखित मानसिक गुण पाये जाते हैं - कल्पना और दिवास्वप्नों की बहुलता, बुद्धि का अधिकतम विकास, सोचने-समझने और तर्क करने की शक्ति में वृद्धि, विरोधी मानसिक दशायें आदि। कोलेसनिक के शब्दों में -

“किशोर की मानसिक जिज्ञासा का विकास होता है। वह इन समस्याओं के सम्बन्ध में अपने विचारों का निर्माण भी करता है।”

3.घनिष्ठ व व्यक्तिगत मित्रता:- किसी समूह का सदस्य होते हुए भी किशोर केवल एक या दो बालकों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है, जो उसके परम मित्र होते हैं और जिनसे वह अपनी समस्याओं के बारे में स्पष्ट रूप से बातचीत करता है। वेलेनटीन का कथन है,-“घनिष्ठ और व्यक्तिगत मित्रता उत्तर-किशोरावस्था की विशेषता है।”

4.व्यवहार में विभिन्नता:-किशोर में आवेगों और संवेगों की बहुत प्रबलता होती है। यही कारण है कि वह भिन्न-भिन्न अवसरों पर विभिन्न प्रकार का व्यवहार करता है। उदाहरणार्थ, किसी समय वह अत्यधिक क्रियाशील होता है और किसी समय अत्यधिक काहिल, किसी परिस्थिति में साधारण रूप से उत्साहपूर्ण और किसी में असाधारण रूप से उत्साहहीन। बी. एन. झा. ने लिखा है,-“हमारे सबके संवेगात्मक व्यवहार में कुछ विरोध होता है, पर किशोरावस्था में यह व्यवहार विशेष रूप से स्पष्ट होता है।”

5.स्थिरता व समायोजन का अभाव:- रॉस ने किशोरावस्था को शैशवावस्था का पुनरावर्तन कहा है, क्योंकि किशोर बहुत कुछ शिशु के समान होता है। उसकी बाल्यावस्था की स्थिरता समाप्त हो जाती है और वह एक बार फिर शिशु के समान अस्थिर हो जाता है। उसके व्यवहार में इतनी उद्विग्नता आ जाती है कि वह शिशु के समान अन्य व्यक्तियों और अपने वातावरण से समायोजन नहीं कर पाता है। अतः रॉस का मत है कि,-“शिशु के समान किशोर को अपने वातावरण से समायोजन करने का कार्य फिर आरम्भ करना पड़ता है।”

6.स्वतंत्रता व विद्रोह की भावना:- किशोर में शारीरिक और मानसिक स्वतंत्रता की प्रबल भावना होती है। वह बड़ों के आदेशों, विभिन्न परम्पराओं, रीति रिवाजों और अन्धविश्वासों के बंधनों में न बँधकर स्वतंत्र जीवन व्यतीत करना चाहता है। अतः यदि उस पर किसी प्रकार का प्रतिबंध लगाया जाता है, तो उसमें विद्रोह की ज्वाला फूट पड़ती है। कोलेसनिक का कथन है कि,-“किशोर, प्रौढ़ों को अपने मार्ग में बाधा समझता है, जो उसे अपनी स्वतंत्रता का लक्ष्य प्राप्त करने से रोकते हैं।”

7.काम-शक्ति की परिपक्वता:-कामेन्द्रियों की परिपक्वता और काम-शक्ति का विकास किशोरावस्था की सबसे महत्वपूर्ण विशेषताओं में से एक है। इस अवस्था के पूर्व काल में बालकों और बालिकाओं में समान लिंगों के प्रति आकर्षण होता है। इस अवस्था के उत्तरकाल में यह आकर्षण विषम लिंगों के प्रति प्रबल रुचि का रूप धारण कर लेता है। गेट्स एवं अन्य का मत है,-“लगभग 40 प्रतिशत बालकों को एक या इससे अधिक बार का विषम लिंगीय अनुभव होता है।”

8.समूह को महत्व:-किशोर जिस समूह का सदस्य होता है, उसको वह अपने परिवार और विद्यालय से अधिक महत्वपूर्ण समझता है। यदि उसके माता-पिता और समूह के दृष्टिकोणों में अंतर होता है, तो वह समूह के ही दृष्टिकोणों को श्रेष्ठतर समझता है और उन्हीं के अनुसार अपने व्यवहार, रुचियों, ईच्छाओं आदि में परिवर्तन करता है। बिग एवं हण्ट के अनुसार, -“जिन समूहों से किशोरों का सम्बन्ध होता है, उनसे उनके लगभग सभी कार्य प्रभावित होते हैं। समूह उनकी भाषा, नैतिक मूल्यों, वस्त्र पहनने की आदतों और भोजन करने की विधियों को प्रभावित करते हैं।”

9.रुचियों में परिवर्तन एवं स्थिरता:-के.के. स्ट्रॉग के अध्ययनों ने यह सिद्ध कर दिया है कि 15 वर्ष की आयु तक किशोरों की रुचियों में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, पर उसके बाद उनकी रुचियों में स्थिरता आ जाती है। वेलेनटाइन के अनुसार- किशोर बालकों और बालिकाओं की रुचियों में समानता भी होती है और विभिन्नता भी, उदाहरणार्थ, बालकों और बालिकाओं में अग्रांकित रुचियाँ होती हैं- पत्र-पत्रिकाएँ, कहानियाँ, नाटक और

उपन्यास पढ़ना, सिनेमा देखना, रेडियो सुनना, शरीर का अलंकृत करना, विषम लिंगों से प्रेम करना आदि। बालकों को खेलकूद और व्यायाम में विशेष रुचि होती है। इसके विपरीत बालिकाओं में कढ़ाई-बुनाई, नृत्य और संगीत के प्रति विशेष आकर्षण होता है।

10. समाज सेवा की भावना:- किशोर में समाज सेवा की अति तीव्र भावना होती है। इस संबंध में रास के ये शब्द उल्लेखनीय हैं-“किशोर समाज-सेवा के आदर्शों का निर्माण और पोषण करता है। उसका उदार हृदय मानव-जाति के प्रेम से ओत प्रोत होता है, और वह आदर्श समाज का निर्माण करने में सहायता देने के लिए उद्विग्न रहता है।”

11. ईश्वर व धर्म में विश्वास:- किशोरावस्था के आरम्भ में बालकों को धर्म और ईश्वर में आस्था नहीं होती है। इनके संबंध में उनमें इतनी शंकायें उत्पन्न होती हैं कि वे उनका समाधान नहीं कर पाते हैं। पर धीरे-धीरे उनमें धर्म में विश्वास उत्पन्न हो जाता है और वे ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने लगते हैं।

12. जीवन-दर्शन का निर्माण:- किशोरावस्था से पूर्व बालक अच्छी और बुरी, सत्य और असत्य, नैतिक और अनैतिक बातों के बारे में नाना प्रकार के प्रश्न पूछता है। किशोर होने पर वह स्वयं इन बातों पर विचार करने लगता है और फलस्वरूप अपने जीवन-दर्शन का निर्माण करता है। वह ऐसे सिद्धान्तों का निर्माण करना चाहता है, जिनकी सहायता से वह अपने जीवन में कुछ बातों का निर्णय कर सके। इसे इस कार्य में सहायता देने के उद्देश्य से ही आधुनिक युग में ‘युवक आन्दोलनों’ का संगठन किया गया।

13. अपराध-प्रवृत्ति का विकास:- किशोरावस्था में बालक में अपने जीवन-दर्शन, नये अनुभवों की ईच्छा, निराशा, असफलता, प्रेम के अभाव आदि के कारण अपराध-प्रवृत्ति का विकास होता है। वैलेनटीन का विचार है कि,-“किशोरावस्था, अपराध-प्रवृत्ति के विकास का नाजुक समय है। पक्के अपराधियों की एक विशाल संख्या किशोरावस्था में ही अपने व्यावसायिक जीवन को गम्भीरतापूर्वक आरम्भ करती है।”

14. स्थिति व महत्व की अभिलाषा:- किशोर में महत्वपूर्ण व्यक्ति बनने और प्रौढ़ों के समान निश्चित स्थिति प्राप्त करने की अत्याधिक अभिलाषा होती है। ब्लेयर जोन्स एवं सिम्पसन के शब्दों में,-“किशोर महत्वपूर्ण बनना, अपने समूह में स्थिति प्राप्त करना और श्रेष्ठ व्यक्ति के रूप में स्वीकार किया जाना चाहता है।”

15. व्यवसाय का चुनाव:- किशोरावस्था में बालक अपने भावी व्यवसाय को चुनने के लिए चिन्हित रहता है। इस सम्बन्ध में स्टेण्ग का कथन है कि,-“जब छात्र हाईस्कूल में होता है, तब वह किसी व्यवसाय को चुनने, उसके लिए तैयारी करने, उसमें प्रवेश करने और उसमें उन्नति करने के लिए अधिक ही अधिक चिन्तित होता है।”

इस प्रकार हम देखते हैं कि किशोरावस्था में बालक में अनेक नवीन विशेषताओं के दर्शन होते हैं। इनके सम्बन्ध में स्टैनले हॉल ने लिखा है,-“किशोरावस्था एक नया जन्म है, क्योंकि इसी में उच्चतर और श्रेष्ठतर मानव-विशेषताओं के दर्शन होते हैं।”

3.5 किशोर की व्यवहार-प्रवृत्तियां

ब्लेयर, जोन्स एवं सिम्पसन का कथन है-“कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर जोन्स और उनके साथियों ने किशोरों की विशिष्ट समस्याओं का विस्तृत अध्ययन किया है।”

इसी अध्ययन के आधार पर स्किनर ने अधिकांश किशोरों की प्रमुख व्यवहार-समस्याओं अथवा प्रवृत्तियों का वर्णन किया है, जो संक्षेप में निम्नलिखित हैं-

- 1 किशोर का बहुधा आदर्शवादी होना।
- 2 किशोर में समायोजन की समस्या का प्रायः कठिन होना।
- 3 किशोर में आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करने की ईच्छा होना।
- 4 किशोर में लिंग-सम्बन्धी संतोषप्रद कार्य करने की आकांक्षा होना।
- 5 किशोर के लिए व्यक्तिगत व्यवसाय-सम्बन्धी निर्णय लेना आवश्यक होना।
- 6 किशारे का अपनी शारीरिक शक्ति और व्यक्तिगत पर्याप्तता का मूल्यांकन करना।
- 7 किशोर में अपने व्यक्तिगत अस्तित्व को स्थापित करने की अभिलाषा होना।
- 8 किशोर का व्यस्क-व्यवहार की अनेक विधियों को सीखने का प्रयत्न करना।
- 9 किशोर का कभी-कभी व्यक्तिगत भय, चिन्ता या असुरक्षा की भावना से परेशान रहना।
- 10 किशोर का कभी-कभी दूरवर्ती उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए उतावला होना।
- 11 किशोर का तर्कशीलता, अमूर्त विचारों और निर्णय की विधि को प्राप्त करने में संलग्न रहना।
- 12 किशोर के व्यवहार से परिवार और विद्यालय में प्राप्त होने वाली स्वतंत्रता के अनुपात में आत्मानुशासन का प्रमाण मिलना।
- 13 किशोर का कभी-कभी भद्दा दिखाई देना और अपने समकक्ष समूह से किसी प्रकार की भिन्नता के प्रति विशेष रूप से सचेत रहना।
- 14 स्किनर के शब्दों में, -“किशोर के व्यवहार का अन्तिम और महत्वपूर्ण स्वरूप, व्यक्तित्व, प्रौढता की दिशा में बढ़ने में लक्षित होना है।”

हम कह सकते हैं कि किशोरों में व्यवहार सम्बन्धी अनेक समस्याएँ तथा व्यवहार-प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। इसका अभिप्राय यह भी नहीं है कि उनका ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है। शिक्षक एवं अभिभावक किशोरों की समस्याओं का सर्तकता से अध्ययन करके, उसके व्यवहार को उचित दिशा प्रदान कर, उसे आत्म-सन्तोष प्रदान कर सकते हैं। हम अपने इस निष्कर्ष की पुष्टि में ब्लेयर, जोन्स व सिम्पसन के अग्रलिखित वाक्यों को उद्धृत कर रहे हैं, -“किशोर की कुछ विशिष्ट समस्याएँ होती हैं। यदि शिक्षक एवं अभिभावक, किशोरों को व्यस्कावस्था में सरलतापूर्वक प्रवेश करने में सहायता देना चाहते हैं, तो उनको समान रूप से किशोरों की अनोखी समस्याओं के स्वरूप से अवगत होना चाहिए। इस कार्य के लिए आधारभूत व्यवहार-सिद्धान्त, किशोरावस्था एवं प्रत्येक किशोर से सम्बन्धित विशिष्ट ज्ञान का होना पहली शर्त है।”

3.6 यौवनारंभ

किशोरावस्था, जीवन का सबसे कठिन और नाजुक काल है। इस अवस्था में बालक का झुकाव जिस ओर हो जाता है, उसी दिशा में वह जीवन आगे बढ़ता है। वह धार्मिक या अधार्मिक, देश-प्रेमी या देश-द्रोही, कर्मण्य या अकर्मण्य- कुछ भी बन सकता है। इसी आवस्था में संसार के सब महान पुरुषों ने अपने जीवन का संकल्प किया है। महात्मा गाँधी ने अपने जीवन में सत्य का अनुसरण करने की प्रतिज्ञा इसी अवस्था से की थी। अतः बालकों के भावी भाग्य और उत्कृष्ट जीवन के निर्माण में इस अवस्था की गरिमा से अपने भाग्य को एक क्षण के लिए भी विचलित न करके अध्यापकों और अभिभावकों को उनकी शिक्षा का सुनियोजन और संचालन करना अपना परम

पुनीत कर्तव्य समझना चाहिए। उन्हें वैलेन्टाइन के इस वाक्य को अपना आदर्श सूत्र मानना चाहिए- “मनोवैज्ञानिकों द्वारा बहुत समय तक उपदेश दिये जाने के बाद अन्त में यह बात व्यापक रूप से स्वीकार की जाने लगी है कि शैक्षिक दृष्टिकोण से किशोरावस्था का अत्याधिक महत्व है।”

3.7 सारांश

सारांश के रूप में प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत किशोरावस्था तथा उसके विकास के सिद्धान्तों को समझाने का प्रयास किया गया है। इसके साथ-साथ किशोरावस्था की मुख्य विशेषताओं तथा उसकी व्यवहार-प्रवृत्तियों पर भी प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

3.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. किशोरावस्था की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. किशोरावस्था की व्यवहार-प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।
3. किशोरावस्था को जीवन का सबसे कठिन काल कहा जाता है। इस तथ्य को स्पष्ट कीजिए।

3.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. एडलर, ए0, प्राब्लम्स ऑफ न्यूरोसिस, हारपर एण्ड रो न्यूयार्क, 1964
2. कोलमैन, जूल्स वी., साइकोथेराप्यूटिक प्रिन्सिपल्स इन केसवर्क इंटरव्यूक अमेरिकन जर्नल ऑफ साइक्याट्री, 1951
3. आलपोर्ट, एफ.एच., सोशल साइकालोजी, हघटन मिफलिन कं0 वास्टन, 1925

व्यस्क अवस्था एवं वृद्धावस्था

इकाई की रूपरेखा

- 4.0 उद्देश्य
- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 व्यस्क अवस्था
- 4.2 युवा प्रौढ़ावस्था की विशेषताएं एवं समस्या
- 4.3 मध्य प्रौढ़ावस्था की विशेषताएं एवं समस्या
- 4.4 उत्तर प्रौढ़ावस्था की विशेषताएं एवं समस्या
- 4.4 सारांश
- 4.5 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 4.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप:

- व्यस्क अवस्था से परिचित हो सकेंगे।
- युवा प्रौढ़ावस्था, मध्य प्रौढ़ावस्था एवं उत्तर प्रौढ़ावस्था की विशेषताएं एवं समस्याओं को समझ सकेंगे।
- वृद्धावस्था एवं उससे सम्बंधित समस्याओं से परिचित हो जायेंगे।

4.1 प्रस्तावना

व्यस्क अवस्था एक ऐसी अवधि है जिसमें कई प्रकार के शारीरिक और मनोवैज्ञानिक परिवर्तन घटित होते हैं तथा पारिवारिक और व्यवसायिक उत्तरदायित्वों के कारण सामाजिक कार्यकलाप अधिकांशतया कम हो जाते हैं। यही वह समय होता है जब व्यक्तियों को अपने व्यावसायिक जीवन की योजना बनानी पड़ती है तथा अपना व्यवसाय निर्धारित करना पड़ता है। प्रस्तुत इकाई में हम व्यस्क अवस्था के परिचय से सम्बन्धित चर्चा करेंगे।

प्रौढ़ावस्था में विकास कार्यों में निपुण होने के साधन जैसे शारीरिक कार्यक्षमता, गामक और मानसिक योग्यताएं प्रतिरूप (आदर्श व्यक्ति) होते हैं। इस अवस्था में व्यक्ति परिपक्व और सम्माननीय होना चाहता है तथा धन और धर्म के विषयों में परिस्थिति प्राप्त करना चाहता है। अतः प्रस्तुत इकाई में हम प्रौढ़ावस्था की विशेषताएं एवं समस्याएं से सम्बन्धित चर्चा करेंगे।

सामान्यतः वृद्धावस्था को आखिरी अवस्था माना गया है। वृद्धावस्था शुरू होने के बाद मृत्यु तक रहती है। एक आम धारणा है कि जब व्यक्ति 60 साल की अवस्था में पहुंचता है तो उसका वृद्ध जीवन शुरू हो जाता है सभी

लोगों में इसका विस्तार एक समान नहीं होता है। सभी वृद्धों में पायी जाने वाली मनोवृत्तियां भिन्न-भिन्न होती हैं। इनकी दिनचर्या अलग-अलग होती है। कुछ तो काम को ही जीवन मानते हैं और अपने पिछले वर्षों की दिनचर्या की दुहराते रहने का संकल्प ले लेते हैं। परन्तु कुछ लोग बुढ़ापे को विश्राम करने की अवस्था मानकर चारपाई पकड़ लेते हैं और समय से पूर्व ही बुढ़ापे को आमंत्रित करने का प्रयत्न करते हैं। प्ररस्तुत इकाई में वृद्धावस्था से संबन्धित विभिन्न पहलुओं पर चर्चा की जाएगी।

4.2 व्यस्क अवस्था

व्यस्क अवस्था का आरम्भ किशोरावस्था के पश्चात् से ही शुरू हो जाता है। यह वह अवधि है जब व्यक्ति यौनरूप से व्यस्क होना आरम्भ कर देता है। व्यक्ति के जीवनकाल में यह अवधि महत्वपूर्ण है क्योंकि यह एक संक्रमण अवस्था, परिवर्तनों का समय, एक समस्या-आयु और एक ऐसा समय है जब व्यक्ति एक पहचान की तलाश करता है। व्यस्क अवस्था की अवधि अठारह वर्ष से लगभग चालीस वर्ष होती है तथा शरीरिक और मनोवैज्ञानिक परिवर्तन घटित होते हैं तथा इसके बाद प्रजनन क्षमता कम होनी आरंभ हो जाती है। व्यस्क अवस्था व्यवस्थापन काल (management time) और प्रजनन काल होता है यह प्रतिबद्धताओं और स्वावलंबन का समय होता है और मूल्य व्यवस्था में भी परिवर्तन होते हैं। व्यस्क व्यक्ति अपने नए जीवन विन्यासों में ढल जाता है। इस अवस्था में विकास कार्यों में निपुण होने के साधन शारीरिक कार्यक्षमा, गामक और मानसिक योग्यताएं, अभिप्रेरणा और एक अच्छा भूमिका-प्रतिरूप (आदर्श व्यक्ति) होते हैं। व्यक्तिगत अभिरूचियों में कपड़ों में रूचि रखना और अपने आप को दर्शनीय रखना शामिल है। व्यस्क व्यक्ति परिपक्व और सम्माननीय होना चाहता है तथा धन और धर्म के विषयों में परिस्थिति प्राप्त करना चाहता है। इस अवधि में सामाजिक कार्यकलाप पारिवारिक और व्यवसायिक उत्तरदायित्वों के कारण अधिकांशतया कम हो जाते हैं। यही वह समय होता है जब व्यक्तियों को अपने व्यावसायिक जीवन की योजना बनानी पड़ती है तथा व्यवसाय निर्धारित करना पड़ता है पुरुषों में अधिकांशतया सामाजिक गतिशीलता उनके अपने प्रयासों और परिश्रम के कारण होती है। जबकि महिलाओं में, सामाजिक गतिशीलता उनकी अपनी उपलब्धियों के कारण होती है जिससे सामाजिक सीढ़ी चढ़ते हैं अथवा वे क्योंकि उच्च वर्ग के परिवार में विवाह करने से भी वे सामाजिक सीढ़ी चढ़ जाती हैं।

व्यावसायिक समायोजन (business integration) बहुत कठिन समय है। जिसमें व्यवसाय का चयन, अपने व्यवसाय में व्यवस्थापन और कार्य के पर्यावरण के अनुसार समायोजन करना शामिल है। व्यावसायिक समायोजन व्यक्तियों द्वारा की गई उपलब्धियों, उनके कार्यों में बारंबार होने वाले परिवर्तनों और व्यक्तियों द्वारा अनुभव की गई कार्य संतुष्टि में देखा जा सकता है।

इस अवधि में पारिवारिक समायोजन अत्यंत कठिन भी हो सकता है। पारिवारिक भूमिकाओं और उत्तरदायित्व में अनेक परिवर्तन होते हैं। वैवाहिक समायोजन (marital adjustment) के लिए व्यक्ति को अपनी दिनचर्या में भी बदलाव लाने की आवश्यकता पड सकती है। कुछ मामलों में, जैसे विवाह की तैयारी की कमी, शीघ्र विवाह, विवाह के बारे में अव्यावहारिक और रोमानी (कल्पना प्रधान) विचा तथ भूमिका में बहुत अधिक परिवर्तन विवाह में अनेक समस्याएं उत्पन्न कर सकते हैं। अभिभावक बना भी दृष्टिकोणों, मूल्यों , भूमिकाओं और उत्तर दायित्वों में परिवर्तन पैदा कर सकता है। महिलाओं के नए परिवार में समायोजित होने के लिए प्रयास परिवर्तन करने पडते हैं। ऐसा तब होता है जब संयुक्त परिवार हो और बच्चों का आगमन हो। अनेक कारक पितृत्व/मातृत्व के समायोजन के नियंत्रित करते हैं जैसे गर्भावस्था और पितृत्व अभिभावकों की आयु, बालको का लिंग, अभिभावकों की आशा और बालकों के स्वभाव के प्रति दृष्टिकोण । विवाह में सफलता का आकलन सात मानदंडों से किया जा सकता है 'पति-पत्नी प्रसन्नता', स्नेहपूर्ण अभिभावक-बालक (संतान)', संबंध, बालकों का

अच्छा समायोजन', 'मतभेदों को दूर करने की यांग्यता', 'वित्त की अच्छी देखरेख', 'भावनाएं', 'ससुराल-पक्ष के साथ समायोजन'। यह देखा जाना चाहिए कि पहले समय की अपेक्षा आजकल महिलाओं की पुरुषों में एकलपन स्वीकार्य है।

व्यस्क अवस्था में व्यक्ति अपने मित्रों के साथ तथा प्रेम और कार्य में सक्रिय रहता है इस अवस्था में घनिष्ठ संबंध, कार्य को महत्व दिया जाता है और सामाजिक जीवन का विकास होता है। प्रारंभिक पितृत्व के नए कर्तव्य भी सामने आते हैं। एरिकसन ने इस अवस्था को यौन पारस्परिकता के संदर्भ में स्पष्ट किया है कि यह शारीरिक और संवेगात्मक संबंध, सर्म्थन, प्रेम, सुख, विश्वास और उन सभी अन्य तत्वों का आदान-प्रदान है जो स्वस्थ व्यस्क संबंधों से जुड़े हैं तथा जो शारीरिक संबंध बनाने और बालकों के पालन-पोषण के लिए अनुकूल है। घनिष्ठता का अर्थ परिवार और वैवाहिक अथवा शारीरिक संबंध बनाने वाले साथी के साथ संबंधों का महसूस/ बोध करने की प्रक्रिया है।

इस अवस्था में अनुभव की गई घनिष्ठता में शक्तिशाली पारस्परिक विशेषता है जो यौन अथवा वैवाहिक संबंध बनाने वाले साथियों के बीच आदान-प्रदान है। शारीरिक संबंध बनाने तथा परस्पर प्रेम संबंधों के सामान्य जीवन के अनुभवों से वंचित होने और महसूस करने से है। इसकी पहचान अकेलेपन, अलगाव, सामाजिक वापसी अथवा असहभागिता की भावनाएं है।

व्यस्क अवस्था के मध्य में शारीरिक और मनोवैज्ञानिक हास देखा जाता है। इस अवस्था का सफल समायोजन पूर्व की अवस्थाओं में निर्धारित अनिवार्य आधार पर निर्भर करता है। यह आयु संक्रमण और तनाव की भंयकर अवधि कहलाती है। यह अवधि उपलब्धियों एवं मूल्यांकनों की अवधि कहलाती है कभी-कभी य हकताहट ;इवतमकवउद्ध और रिक्त नीड की अवधि होती है क्योंकि बच्चे बड़े हो चुके होते हैं और उच्च अध्ययन अथवा रोजगार के लिए बाहर गए होते हैं या वे विवाहित होते हैं और अपना बसेरा अलग बसा लेते हैं। प्रौढा व्यक्ति अचानक अकेले हो जाते हैं औश्र अपने खाली समय का उपयोग करना नहीं जानते। रूपरंग (चेहरे) शरीरक्रियात्मक कार्यप्रणाली और कामुकता में शारीरिक परिवर्तन हो जाते हैं और इसके साथ समायोजन करना अत्यंत कठिन हो जाता है। महिलाओं में रजोनिवृत्ति परिवर्तन हो जाते हैं। क्योंकि एस्ट्रोजन में कमी हो जाती है और मनोवैज्ञानिक तनाव हो जाता है। जबकि पुरुषों में शरीरक्रियात्मक और मनोवैज्ञानिक परिवर्तन होते हैं जे उनकी मनोवृत्ति, व्यवहार और स्व-मूल्यांकन को प्रभावित करते हैं

व्यस्क अवस्था के मध्य में व्यक्ति बड़े होने के साथ-साथ स्वतंत्र हो रहे होते हैं। व्यक्ति अब समुदाय की ओर देखते हैं क्योंकि ऐसी भावना होती है कि यह वापस देने का समय है, मदद करने तथा समुदाय को योगदान करने की भावना होती है। प्रजननता पीढ़ी शब्द से लिया गया है तथा अभिभावक अपने संतानों की बिना शर्त के सकारात्मक प्रेम और देखरेख प्रदान करते हैं एरिकसन ने माना है कि इस अवस्था की विस्तार अन्य उत्पादक कार्यकलापों के लिए है। इस अवस्था का एरिकसन का विप्लेषण ठोस रूप से लालन-पालन की ओर अग्रसर था। प्रजनन का विस्तार व्यक्ति की अपनी संतानों से भी आगे सभी भावी पीढ़ियों से भी आगे है विष्व में आधुनिक उत्तरदायी परिप्रेक्ष्य के विषय में बातचीत करता है। इस संकटकालीन अवस्था का सकारात्मक परिणाम रचनात्मक और बिना शर्त योगदान करने पर निर्भर है यह स्वार्थ का अंत भी हो सकता है। संतान होना प्रजननता की पूर्व शर्त नहीं है और साथ की केवल अभिभावक होना भी कोई गारंटी नहीं है कि प्रजननता प्राप्त हो जाएगी। बालकों की देखभाल करना प्रजननता का सामान्य परिदृष्य है परंतु इस अवस्था में सफलता वास्तव में देने और देखभाल करने, जीवन को कुछ वापस करने पर निर्भर करती है जो व्यक्ति की सबसे अच्छी सक्षमताएं है। निष्चलता एक प्रकार से

स्वार्थ, असंयम, लालच, युवाओं और भावी पीढ़ियों में अरुचि की भवनाओं को व्यक्त करती है। निष्चलता की उत्पत्ति बालकों तथा संभव रूप से विष्व की भलाई और विकास में योगदान करने वाले मार्गों अथवा से हुई है।

इसे प्रकार, हम देखते हैं कि एरिक्सन ने अपनी आठ मनोसामाजिक अवस्थाओं में प्रत्येक अवस्था की प्रमुख विशेषताओं और किस प्रकार प्रत्येक अवस्था समस्त मानव वृद्धि और विकास के लिए महत्वपूर्ण है, विस्तार से स्पष्ट किया है।

4.2 प्रौढ़ावस्था की विशेषताएं एवं समस्याएं

युवा प्रौढ़ावस्था की विशेषतायें

- युवा प्रौढ़ावस्था में अनेक शारीरिक और मनोवैज्ञानिक परिवर्तन घटित होते हैं।
- प्रौढ़ावस्था व्यवस्थापन काल और प्रजनन काल होता है।
- व्यस्क व्यक्ति परिपक्व और सम्माननीय होना चाहता है तथा धन और धर्म के विषयों में परिस्थिति प्राप्त करना चाहता है।

युवा प्रौढ़ावस्था की समस्याएं:

इस अवस्था में व्यावसायिक समायोजन बहुत कठिन होता है। जिसमें व्यवसाय का चयन, अपने व्यवसाय में व्यवस्थापन और कार्य के पर्यावरण के अनुसार समायोजन करना शामिल है। व्यावसायिक समायोजन व्यक्तियों द्वारा की गई उपलब्धियों, उनके कार्यों में बारंबार होने वाले परिवर्तनों और व्यक्तियों द्वारा अनुभव की गई कार्य संतुष्टि में देखा जा सकता है।

इस अवधि में पारिवारिक समायोजन अत्यंत कठिन भी हो सकता है। पारिवारिक भूमिकाओं और उत्तरदायित्व में अनेक परिवर्तन होते हैं। वैवाहिक समायोजन के लिए व्यक्ति को अपनी दिनचर्या में भी बदलाव लाने की आवश्यकता पड़ सकती है। कुछ मामलों में, जैसे विवाह की तैयारी की कमी, शीघ्र विवाह, विवाह के बारे में अव्यावहारिक और रोमानी विचार तथा भूमिका में बहुत अधिक परिवर्तन विवाह में अनेक समस्याएं उत्पन्न कर सकते हैं। अभिभावक बना भी दृष्टिकोणों, मूल्यों, भूमिकाओं और उत्तर दायित्वों में परिवर्तन पैदा कर सकता है। महिलाओं के नए परिवार में समायोजित होने के लिए प्रयास परिवर्तन करने पड़ते हैं। ऐसा तब होता है जब संयुक्त परिवार हो और बच्चों का आगमन हो। अनेक कारक पितृत्व/मातृत्व के समायोजन को नियंत्रित करते हैं जैसे गर्भावस्था और पितृत्व अभिभावकों की आयु, बालको का लिंग (Sex), अभिभावकों की आशा और बालकों के स्वभाव के प्रति दृष्टिकोण, विवाह में सफलता का आकलन सात मानदंडों से किया जा सकता है।

- पति-पत्नी प्रसन्नता
- स्नेहपूर्ण अभिभावक-बालक (संतान)
- संबंध, बालकों का अच्छा समायोजन
- मतभेदों को दूर करने की योग्यताएं

- वित्त की अच्छी देखरेख
- भावनाएं
- ससुराल-पक्ष के साथ समयोजन

यह देखा जाना चाहिए कि पहले समय की अपेक्षा आजकल महिलाओं की पुरुषों में एकलपन स्वीकार्य है।

मध्य प्रौढावस्था

मध्य प्रौढावस्था की विशेषताएं:

- इस अवधि में शारीरिक और मनोवैज्ञानिक हार्स देखा जाता है।
- यह अवधि उपलब्धियों एवं मूल्यांकनों की अवधि कहलाती है।

मध्य प्रौढावस्था की समस्याएं:

मध्यावस्था कठिन समय हो सकता है तथा इस अवस्था का सफल समायोजन पूर्व की अवस्थाओं में निर्धारित अनिवार्य आधार पर निर्भर करता है। यह आयु संक्रमण और तनाव की भयंकर अवधि कहलाती है। कभी-कभी यह हकताहट और रिक्त नीड की अवधि होती है क्योंकि बच्चे बड़े हो चुके होते हैं और उच्च अध्ययन अथवा रोजगार के लिए बाहर गए होते हैं या वे विवाहित होते हैं और अपना बसेरा अलग बसा लेते हैं। प्रौढा व्यक्ति अचानक अकेले हो जाते हैं और अपने खाली समय का उपयोग करना नहीं जानते। रूपरंग (चेहरे) शरीरक्रियात्मक कार्यप्रणाली और कामुकता में शारीरिक परिवर्तन हो जाते हैं और इसके साथ समायोजन करना अत्यंत कठिन हो जाता है। महिलाओं में रजोनिवृत्ति परिवर्तन हो जाते हैं। क्योंकि एस्ट्रोजन (महिला हार्मोन) में कमी हो जाती है और मनोवैज्ञानिक तनाव हो जाता है। जबकि पुरुषों में शरीरक्रियात्मक और मनोवैज्ञानिक परिवर्तन होते हैं जे उनकी मनोवृत्ति, व्यवहार और स्व-मूल्यांकन को प्रभावित करते हैं

उत्तर प्रौढावस्था

उत्तर प्रौढावस्था की विशेषताएं:

- इस अवस्था में मनोवैज्ञानिक गिरावट तेज हो जाती है।
- विभिन्न प्रकार के शारीरिक परिवर्तनों जैसे चेहरा मोहरा, शारीरिक गठन में विभिन्न शरीर क्रियात्मक कार्यप्रणाली में परिवर्तन, विभिन्न शरीरक्रियात्मक कार्यप्रणाली में परिवर्तन, और यौन परिवर्तन आदि शामिल हैं।
- इस अवस्था में संबंध किसी अन्य अवस्था में संबंध की अपेक्षा अधिक स्पष्ट होते हैं।
- इससे लोग, पिछली अवस्थाओं के अवशेषों का प्रभावकारी ढंग से पुनःनिर्माण करते हैं।

उत्तर प्रौढावस्था की समस्याएं

इस अवस्था में गामक क्षमताओं में परिवर्तन शक्ति और गति में परिवर्तन होते हैं तथा व्यक्ति को नई योग्यताएं प्राप्त करने में अधिक समय लगता है। इस अवस्था में व्यक्ति की मानसिक योग्यताओं में परिवर्तन होने के विभिन्न कारण हैं। इनमें से महत्वपूर्ण है पर्यावरणीय उद्दीपन की कमी और मानसिक रूप से सतर्क रहने की प्रेरणा का अभाव। स्वास्थ्य और आर्थिक परिस्थिति का बिगड़ना, आवास और वैवाहिक परिस्थिति में परिवर्तन तथा मूल्यों में परिवर्तन जैसे विभिन्न कारणों से रुचियों में परिवर्तन होते हैं। इस अवस्था में स्वास्थ्य, आर्थिक और वैवाहिक

स्थिति में परिवर्तन आने से मनोरंजनात्मक कार्यकलापों में भी परिवर्तन आया है। वृद्ध कर्मचारी अनिवार्य सेवानिवृत्त, भाड़े के कार्यों, पेंशन योजना, सामाजिक अभिवृत्तियों, कर्मचारियों के लिंग और कार्य के स्वरूप द्वारा सीमित होते हैं। सेवानिवृत्ति के कारण उनकी भूमिकाएं, रुचियां, मूल्य और जीवन विन्यासों में परिवर्तन होता है। इस प्रकार आय में कमी और एकाकीपन हो जाता है। पति अथवा पत्नी की मृत्यु के कारण, समायोजन की समस्या फिर खड़ी हो जाती है।

इस अवस्था में विशेषरूप से समायोजन में कुछ समस्याएं आती हैं जो दूसरों पर शारीरिक और आर्थिक निर्भरता में वृद्धि, नए संबंध स्थापित करना, अपने खाली समय में नई रुचियों और कार्यकलापों में शामिल होना भी बढ़ गया है। जो बालक अब व्यस्क हो चुके होते हैं, उनके साथ परिपक्व ढंग से व्यवहार करने में भी समायोजन करना पड़ता है।

4.3 वृद्धावस्था का अर्थ एवं परिभाषाएं

विकास की अन्य अवस्थाओं की भांति वृद्धावस्था की अन्तिम सीमा का निर्धारण कठिन ही नहीं, असम्भव भी है। इसलिए मृत्यु को ही वृद्धावस्था की अन्तिम सीमा के रूप में स्वीकार कर लिया गया है।

अमरीका के कुछ विकासात्मक मनोवैज्ञानिकों ने वृद्धावस्था का प्रसार 120 वर्ष तक मान लिया है क्योंकि कुछ लोग इस आयु तक जीवित पाए गए हैं। इन मनोवैज्ञानिकों ने वृद्धावस्था 'Old Age' को अब 'उत्तर-प्रौढ़ावस्था' कहना शुरू कर दिया है। इस प्रकार सभी वृद्धों की समस्याओं का अध्ययन करने हेतु उन्हें निम्नलिखित तीन भागों में बांटा गया है।

1. The Young Old - 65 से 75 वर्ष
2. The Old Old - 75 से 85 वर्ष
3. The Oldest Old - 85 से ऊपर

चूंकि वृद्धावस्था व्यक्ति की अन्तिम अवस्था होती है इसलिए वह शैशव, बालकाल, किशोर और प्रौढ़ावस्था के सुनहरे वर्षों की खट्टी-मीठी अनुभूतियों को समेटे वृद्धावस्था में प्रवेश करता है। उसके पीछे अतीत की एक विशाल चादर फैली होती है जिसकी लम्बाई उसने स्वयं अपने पैरों से नापी है।

रॉबर्ट ब्राउनिंग ने वृद्धावस्था के महत्व को प्रदर्शित करते हुए कहा है -

"Grow old along with me
The best is yet to be
The last of Life, for which the first was made"

जोसेफ कैम्पबेल ने वृद्ध व्यक्ति के सम्मान में लिखा है -

"As a white candle.
In a holy place,
So is the beauty
Of an aged face"

वृद्धावस्था के सम्बन्ध में आशावादी दृष्टिकोण रखना निश्चय की भावनात्मक मनोवृत्ति का परिचायक है। आम तौर पर देखा जाता है कि कई वृद्ध व्यक्ति अनुभवी, साहसी, सहिष्णु, विवेकशील, उदार और धैर्यवान होते हैं। कुछ तो उत्साह से भरे हाने के कारण अपनी सीमित शारीरिक क्षमता के बावजूद अभूतपूर्व मानसिक दृढ़ता, सृजनात्मक कौशल और इच्छा-शक्ति का प्रदर्शन करते रहते हैं। वे न तो अपने परिवार पर और न ही समाज पर आश्रित रहते हैं। इन गुणों से युक्त वृद्ध काफी कम पाये जाते हैं।

कुछ वृद्धों में सामाजिक समायोजन स्थापित करने की क्षमता पाई जाती है। ऐसे लोग वृद्धावस्था की वास्तविकताओं को स्वीकारते हुए परिवार में समाज के साथ समझौता कर लेते हैं और वृद्धावस्था की कमियों तथा कठिनाइयों के बीच प्रायः सुखी जीवन व्यतीत करते हैं। परन्तु उपर्युक्त दोनों प्रकार के वृद्धजनों से सर्वथा भिन्न वे होते हैं जो पूर्णतः पराश्रयी होकर जीवन के शेष दिनों को 'येन केन प्रकारेण' काटते हैं इन वृद्धजनों में शारीरिक-मानसिक हास अपेक्षाकृत तीव्र गति से होता है और उन्हें विवश होकर दूसरों की सहायता लेनी पड़ती है। परिणाम यह होता है कि उनका जीवन सुखविहीन हो जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी वृद्धों में पायी जाने वाली मनोवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। इनकी दिनचर्या अलग-अलग होती है। कुछ तो काम को ही जीवन मानते हैं और अपने पिछले वर्षों की दिनचर्या की दुहराते रहने का संकल्प ले लेते हैं। परन्तु कुछ लोग बुढ़ापे को विश्राम करने की अवस्था मानकर चारपाई पकड़ लेते हैं और समय से पूर्व ही बुढ़ापे को आमंत्रित करने का प्रयत्न करते हैं।

सक्रिय वृद्धावस्था -

कुछ मनोवैज्ञानिकों ने कहा है कि जो वृद्ध सक्रिय होते हैं उनमें प्राणशक्ति तुलनात्मक रूप से ज्यादा पाई जाती है। वे मानसिक और शारीरिक रूप से स्वस्थ होते हैं और उनमें जिजीविषा बची रहती है। विशेषज्ञों ने इस बात के प्रति अपना दृढ़ विश्वास जताया है कि यदि कोई निरोध वृद्ध समुचित आहार लेता रहे, नियमित रूप से व्यायाम करता रहे और उत्तम सामाजिक सम्बन्धों तथा आवश्यक सहायता का लाभ उठाता रहे तो उसकी अनेक क्षमताएं उतनी शीघ्रता से कमजोर नहीं होने पायेंगी जितना की आमतौर पर समझा जाता है। इसलिए वृद्धजनों को नियमित रूप से सक्रिय रहना आवश्यक है। वृद्धावस्था की सक्रियता काफी लाभदायक होती है। इसमें शरीर व दिमाग दोनों चुस्त दुरूस्त रहते हैं। शारीरिक क्षीणता के कारण वृद्धावस्था में व्यायाम करना तथा कठिनाइयों का सामना करने का संकल्प ले रखा है वह जीवन से अधिक सन्तुष्टि प्राप्त कर पाता है। बुढ़ापे में सक्रिय बने रहने के कारण व्यक्ति का अपने परिवार के सदस्यों तथा समाज के साथ उत्तम कोटि का समायोजन भी बना रहता है। जो लोग वृद्धावस्था में किसी व्यवसाय से जुड़ जाते हैं। उन्हें व्यावसायिक शून्यता भी नहीं महसूस होती बल्कि उससे उन्हें कुछ धन भी मिलता है।

दैनिक गतिविधियों से दूर रहने वाले वृद्ध शीघ्र ही शारीरिक व मानसिक दृष्टि से कमजोर हो जाते हैं। उनके सामाजिक सम्बन्ध भी सीमित होने लगते हैं और आर्थिक दृष्टि से भी वे दूसरों पर आश्रित हो जाते हैं। ऐसे वृद्धों में शीघ्र ही उदासीनता विकसित होने लगती है। इसी प्रकार के बुढ़ापे को ही निष्क्रिय बुढ़ापा कहा जाता है।

4.4 वृद्धावस्था के कारण

आयु परिवर्तन एक स्वाभाविक प्रक्रिया है जो स्वयं चलती रहती है। व्यक्ति को जन्म लेने के बाद की अवस्था को शैशवावस्था कहते हैं उसके बाद वह क्रमशः बाल्यावस्था, किशोरावस्था, प्रौढ़ावस्था और फिर अन्ततः वृद्धावस्था में प्रवेश करता है। बुढ़ापा क्यों आता है? यह एक विवादास्पद प्रश्न है। इसको लेकर वैज्ञानिकों के बीच मतभेद है। सभी अपने-अपने तरीके से इसकी खोज में लगे हुए हैं। सम्भवतः बुढ़ापे के कारणों को भली-

भांति जान लेने के बाद हम उसकी प्रक्रिया को धीमी या विलम्बित कर सकते हैं। कुछ चिकित्सकों का मानना है कि कोई भी व्यक्ति बुढ़ापे के कारण नहीं मरता। लोगों की मृत्यु इसलिए होती है क्योंकि जीवन को सुरक्षित रखने वाली जैविक, दैहिक एवं परिवेशीय कारकों को आपूर्ति वृद्धावस्था में रुक जाती है। इन कारकों की जानकारी अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि इनके समुचित ज्ञान के आधार पर व्यक्ति के जीवन का नियोजन और प्रबन्धन बेहतर ढंग से किया जा सकता है और यथासम्भव उसके जीवन प्रसार को व्यापक बनाया जा सकता है। साथ ही वृद्धावस्था के प्रति उसके मन में जो डर या भय विद्यमान है उसे दूर किया जा सकता है।

वृद्धावस्था के कारण :-

वृद्धावस्था के कई कारण हैं जिन्हें निम्न प्रकार प्रस्तुत किया गया है -

1. जेनेटिक संरचना के कारण - जेनेटिक सिद्धान्त का प्रतिपादन स्पेन्सर नामक एक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ने सन् 1989 में किया था। यह सिद्धान्त इस बात को स्पष्ट करता है कि प्रत्येक मनुष्य के जीन्स में ही ऐसे तत्व विद्यमान होते हैं जिनके द्वारा बुढ़ापे का आना तय होता है। इस प्रकार ये जीन्स हानिकारक होते हैं। अभिन्न जुड़वांओं के जीवन की घटनाओं से इन हानिकारक जीन्स का अस्तित्व प्रमाणित होता है। ऐसे जीन्स प्रारम्भिक वर्षों में तो कोशीय क्रियाओं को नियन्त्रित करते हैं परन्तु बाद में वे अपनी क्रिया को बदल देते हैं। जीन्स की परिवर्तित क्रियाओं के कारण व्यक्ति की क्रियात्मक क्षमता में हास आता है।

2. जैविक कारण - मनुष्य के शरीर का निर्माण कोशों द्वारा हुआ है। ये कोश शरीर के सबसे ज्यादा छोटे तत्व हैं। अधिक पुराने हो जाने के बाद कोशों की अपनी गन्दगी निकालने की क्षमता समाप्त हो जाती है। यह कचरा कोश के लगभग 20 प्रतिशत स्थान में जमा हो जाता है। समयान्तराल कोशों के मोलेक्यूल परस्पर सट जाते हैं जिससे बायोकेमिकल चक्रण की क्रिया रुक जाती है। इसके फलस्वरूप कोशों की सामान्य क्रिया बाधित हो जाती है। यह वृद्धावस्था का एक मुख्य जैविक कारण है। परन्तु बहुत से वैज्ञानिक इस स्थिति को वृद्धावस्था का कारण न मानकर इसे वृद्धावस्था का परिणाम मानते हैं।

विद्वानों ने एक बात और बतलाई है कि मस्तिष्क में केन्द्रित हाइफेथैलमस और पिट्यूटरी ग्रन्थि से किसी ऐसे हार्मोन की उत्पत्ति होती है जिसके कारण शरीर में नियोजित ढंग से हास की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। परन्तु इस हार्मोन की खोज अभी तक नहीं की जा सकी है। इसके कारण थायराइड ग्रन्थि से निकले थायाराक्सन रस को ग्रहण करने की कोशकीय क्षमता नष्ट हो जाती है। परिणामस्वरूप शरीर में पोषक तत्वों के परिवर्तन की प्रभावित हो जाती है और वृद्धि लोगों को विभिन्न प्रकार के रोग जकड़ लेते हैं।

3. शारीरिक कारण - अत्यन्त मेहनत करने के कारण व्यक्ति की शारीरिक क्षमता में कमी आने लगती है और वह धीरे-धीरे वृद्धावस्था में वृद्धावस्था में पहुंच जाता है और इस तरह बुढ़ापा आ जाता है। निर्धन व्यक्तियों के निरन्तर मेहनत करने किन्तु पौष्टिक आहार न मिल पाने के कारण उनके शरीर को क्षति पहुंचती है और वे वृद्धावस्था की जटिलताओं को बहुत दिनों तक झेल नहीं पाते। जिस प्रकार गरिष्ठ भोजन से शरीर को क्षति पहुंचती है उसी प्रकार पौष्टिक भोजन के अभाव में भी शरीर दुर्बल हो जाता है। मनुष्य के अन्दर, शक्ति के भीतर प्रकृति की योजना के अनुसार एक निश्चित अवधि में शारीरिक शक्ति में हास उत्पन्न हो जाता है। ऐसा क्यों होता है, यह पता नहीं चल पाया है। परन्तु यह बात प्रत्येक में पायी जाती है। कुछ पशु तो बच्चों को जन्म देने के तुरन्त बाद मर जाते हैं। इस सिद्धान्त को दैहिक सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है।

दैहिक सिद्धान्तों में एक सिद्धान्त वह है जो होमियोस्टैटिक असन्तुलन का सिद्धान्त कहलाता है। इसके अनुसार, जब शारीरिक अवयवों को बीच अन्तःक्रिया बिगड़ जाती है तो शारीरिक स्वास्थ्य और क्रियाशीलता प्रभावित

होती है और बुढ़ापे के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। ऐसा उस स्थिति में होता है जब वृद्ध व्यक्ति में किसी मानसिक आघात का लोप हो जाता है।

क्रॉस-लिनकेज सिद्धान्त द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि हमारे कोशों में पाए जाने वाले प्रोटीन की रचना पेप्टाइड से होती है। परन्तु जब इन पेप्टाइड्स के बीच क्रॉस लिंकिंग हो जाती है तो प्रोटीन की प्रकृति बदल जाती है। फलस्वरूप शरीर में पाये जाने वाले कोलाजेन का कार्य प्रभावित हो जाता है। कोलाजेन शरीर के भीतर पाया जाने वाला मुख्य तन्तु होता है जो त्वचा और रक्त की धमनियों को लोच प्रदान करता है। इसका काफी महत्व होता है।

एक दूसरे शारीरिक सिद्धान्त ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि शरीर के विभिन्न अंगों में मेटाबोलिज्म से उत्पन्न गंदगी के कारण शारीरिक अंगों की सक्षमता में गिरावट आती है। इस गंदे पदार्थ के कारण आंख में मोतियाबिन्द, रक्त की धमनियों में कोलेस्ट्रॉल तथा हड्डियों में भंगुरता का प्रादुर्भाव होता है।

मृत्यु से पहले की अवस्था -

मृत्यु वृद्धावस्था व जीवन का अन्त है। इससे लगभग सभी लोग डरते हैं। अन्ततः एक दिन वह घड़ी आ धमकती है। जिसे हम जीवन की सन्ध्या कहते हैं और व्यक्ति की जीवन-लीला समाप्त हो जाती है। इस घटना को मृत्यु की संज्ञा दी गई है। विशेषज्ञों, विशेष रूप से, चिकित्सकों का मानना है कि मृत्यु यकायक नहीं घटित होती बल्कि यह एक प्रक्रिया है। हृदय, मस्तिष्क तथा कोशों के स्तर पर मृत्यु का विश्लेषण किया गया है। अतः मृत्यु को चार भागों में बांटा गया है जो निम्न प्रकार हैं -

1. क्लिनिकल मृत्यु
2. मस्तिष्कीय मृत्यु
3. जैविक
4. सामाजिक मृत्यु

जब व्यक्ति के हृदय और फेफड़े काम करना बन्द कर देते हैं तो उसकी सांस रूक जाती है और समझा जाता है कि उसकी मृत्यु हो गई। परन्तु इस दशा को न तो चिकित्सक और न ही अन्य लोग समझ पाते हैं।

4.5 वृद्धावस्था की समस्याएं

वृद्धावस्था में व्यक्ति के सामने अनेक प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, जिनसे वे परेशान रहते हैं। ये समस्याएँ शारीरिक, मानसिक व आर्थिक हो सकती हैं। व्यवसायिक जीवन से अवकाश के बाद तो वृद्ध व्यक्ति प्रायः ऐसा समझने लगता है मानों वह आर्थिक दृष्टि से बिल्कुल दूसरों पर ही निर्भर है। अनेक वृद्धजनों में यह धारणा घर कर लेती है कि समाज परिवार में अब उनकी कोई आवश्यकता और उपयोगिता नहीं कर गयी है। अतः बुढ़ापे में एक प्रकार की उदासीनताका भाव भी विकसित होने लगता है। परन्तु जिन वृद्धजनों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति जितनी उत्तम होती है और जो अपने को समाज व परिवार के लिए जितना उपयोगी समझते हैं उन्हें उतनी ही अधिक प्रसन्नता और मानसिक सन्तुष्टि महसूस होती है।

वृद्धावस्था शुरू होने के बाद व्यक्ति का शरीर दिन-प्रतिदिन कमजोर होने लगता है। शारीरिक शक्ति, कार्य-क्षमता तथा प्रतिक्रिया की गति में भी मन्दता आ जाती है। शारीरिक परिवर्तनों की रुचियों और मनोवृत्तियों में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिलता है। सामान्य बौद्धिक योग्यता रचनात्मक, चिन्तन तथा सीखने की क्षमताएं भी शिथिल पड़ जाती हैं।

इस अवस्था में याद रखने की क्षमता भी कम हो जाती है। वृद्धजनों की रूचियां संख्या में घट कर कम जो जाती हैं और उनके लिए उच्चकोटि की उपलब्धियाँ प्रायः असम्भव हो जाती हैं। शारीरिक शक्ति और मानसिक क्षमताओं में मन्दता आ जाने के कारण वृद्ध व्यक्तियों का समायोजन प्रायः निम्न-स्तरीय और असन्तोषजनक हो जाता है जिसके कारण वृद्धों का समाज से सम्पर्क भी कम हो जाता है और वह सामाजिक कार्यक्रमों में भाग नहीं ले पाता। आगे वृद्धावस्था की कुछ अधिक गम्भीर समस्याओं का उल्लेख किया गया है।

1. मानसिक क्षमता में कमी -

वृद्धावस्था के दौरान व्यक्ति मानसिक रूप से भी कमजोर होने लगता है। उसकी स्मृति विलोप होने लगती है और उसकी गतिविधियाँ घटने लगती हैं। इस समय व्यक्ति की अधिगम क्षमता भी कम हो जाता है और उसके लिए नई क्रियाओं को सीख पाना कठिन हो जाता है। स्मृति की क्षमता भी क्रमशः मंद पड़ने लगती है। एक अवस्था में वस्तुओं, व्यक्तियों और स्थानों के नाम सरलता से याद नहीं आते। विशेषज्ञों के अनुसार 60 वर्ष के बाद व्यक्ति की बौद्धिक क्षमता में थोड़ी गिरावट आ जाती है। इसके अतिरिक्त, वृद्धावस्था में विषम परिस्थितियों के कारण मानसिक तनाव, अंतर्द्वंद, कुण्ठा, चिन्ता और अप्रसन्नता का अनुभव होना तो आम बात है।

जब व्यक्ति 75 वर्ष की अवस्था में पहुंचने वाला होता है या पहुंच जाता है तो कुछ लोगों के आस-पास कुछ वृद्धों में एक विशिष्ट प्रकार का मानसिक हास दिखलाई पड़ता है जो मस्तिष्क के क्षतिग्रस्त हो जाने का लक्षण माना जाता है। इस दशा को सेनाइल डिमेन्शिया का एक प्रकार माना जाता है। इस रोग से ग्रसित अनेक रोगी मानसिक चिकित्सालयों और नर्सिंग होम में ही रहते हैं। इस प्रकार के रोगी सच्चाई से दूर चले जाते हैं और उनमें स्मृतिलिपि, अनिद्रा, बेचैनी, उदासीनता के लक्षण देखे जाते हैं। परन्तु उपर्युक्त प्रकार की मस्तिष्कीय विकृति उन्हीं लोगों में पाई जाती है जिनके मस्तिष्कीय कोश किसी भयंकर बीमारी अथवा दुर्घटना में चोट लगने के कारण क्षतिग्रस्त हो चुके होते हैं। जो व्यक्ति नशीले पदार्थों, जैसे-तम्बाकू, अफीम या हेरोइन जैसे ड्रग का अधिक सेवन करते हैं उनके भीतर भी मानसिक परेशानी उत्पन्न होने की अधिक सम्भावना रहती है।

2. दैहिक क्षमता में कमी -

आयु बढ़ने के साथ-साथ व्यक्ति के शरीर में बदलाव आता जाता है और वृद्धावस्था में पहुंचने पर उसका चेहना पूरी तरह बदल जाता है। व्यक्ति के गालों पर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं, चेहरा सिकुड़ कर छोटा हो जाता है, बाल सफेद हो जाते हैं, दांत गिरने लगते हैं तथा शरीर का भार कम हो जाता है। कर्मेन्द्रियों की ही भांति वृद्ध व्यक्ति की ज्ञानेन्द्रियों भी पहले की तरह काम नहीं कर पाती। आंख की रोशनी कम हो जाती है और आंखों में प्रायः मोतियाबिन्द विकसित हो जाता है। सुनने में भी पहले जैसी तीक्ष्णता नहीं रह जाती। रस एवं गन्ध की संवेदनाएं भी मन्द पड़ जाती हैं। ये मौसम में भी प्रभावित होते हैं। इनको ठण्डी में ज्यादा ठण्ड व गर्मी में ज्यादा गर्म महसूस करते हैं।

इनकी शारीरिक शक्ति बहुत तेजी से घटती है और कुछ वृद्धजनों को लाठी का सहारा लेकर चलना पड़ता है। हड्डियों में से लचीलापन समाप्त हो जाता है और मांसपेशियों शिथिल पड़ जाती हैं। शरीर के अधिकांश अंगों में पीड़ा का अनुभव होने लगता है। शरीर के विभिन्न अंगों के बीच क्रियात्मक समन्वय लगभग समाप्त हो जाता है। वृद्धावस्था में मस्तिष्क का भार भी धीरे-धीरे घटने लगता है और उसमें कोशिकाओं का क्षरण प्रारम्भ हो जाता है। हृदय की धमनियों में कोलास्ट्रॉल की सतह मोटी हो जाने से रक्त के संचार में भी अवरोध उत्पन्न होने लगता है। कुछ व्यक्ति उच्च रक्तचाप, मधुमेह, गठिया आर्थराइटिस, हृदय रोग तथा शक्तिहीनता से पीड़ित हो जाते हैं। इन बीमारियों की वजह से व्यक्ति शारीरिक रूप से कमजोर हो जाता है।

उपर्युक्त विवरण से यह नहीं समझना चाहिए कि ये जटिलताएं वृद्धजनों को प्रारम्भ से ही घेर लेती हैं। न ही सभी एक ही प्रकार से इन बीमारियों से ग्रसित होते हैं। वस्तुतः ये दशाएं धीरे-धीरे ही विकसित होती हैं और उन वृद्धों में अधिक देखने को मिलती हैं जो वृद्धावस्था को अनियमित रूप से व्यतीत करते हैं। अपनी दिनचर्या के नियमों द्वारा अनेक अक्षमताओं और व्याधियों से बचा जा सकता है। संतुलित आहार लेकर, भोजन की मात्रा घटाकर, शारीरिक विश्राम द्वारा तथा नियमित रूप से टहलने और व्यायाम को दिनचर्या में शामिल करके वृद्धावस्था को यथासम्भव सुखी और सुरक्षित बनाये रखा जा सकता है।

3. समायोजन की समस्या -

वृद्धावस्था के दौरान व्यक्ति का सामाजिक सम्पर्क सीमित हो जाता है। वह अपने परिवार व पास-पड़ोस से ही सम्पर्क बना पाता है। परिवार के युवा सदस्यों तथा वृद्ध व्यक्तियों के बीच कम से कम एक पीढ़ी का अन्तर तो होता है, जिसे 'जेनेरेशन गैप' कहा जाता है। इसके कारण युवा सदस्यों और वृद्ध व्यक्तियों के बीच वैचारिक मतभेद उभर कर सामने आ जाते हैं। युवा व्यक्ति आधुनिक किन्तु वृद्ध व्यक्ति पुराने विचारों के होते हैं। और इसलिए इन दोनों के विचारों में मेल नहीं खाता। परन्तु जो वृद्धजन पढ़े-लिखे तथा समझदार होते हैं, शीघ्र ही अपने से छोटी उम्र के व्यक्तियों के साथ मित्रवत् बन जाते हैं। भारतीय परिवारों में आज भी यह परम्परा कायम है कि प्रमुख सन्दर्भों में वृद्ध व्यक्ति स्वयं को सम्मानित महसूस करता है तथा अपने को परिवार का मुखिया मानने लगता है। यही कारण है कि जहाँ विदेशों में वृद्धों के लिए नर्सिंग होम की व्यवस्था की जाती है, वहीं अपने देश में वृद्धजन संयुक्त परिवारों में रहकर ही सदस्यों से सेवा और सम्मान प्राप्त करते रहते हैं।

संयुक्त परिवारों में वृद्ध व्यक्तियों को कम समस्या होती है क्योंकि परिवार के लोग साथ रहते हैं और उनकी देखभाल करते रहते हैं। कहा जाता है कि, यह कहावत संयुक्त परिवारों में चरितार्थ होती खिलती है। जहां सबसे छोटा और सबसे बड़ा सबसे घनिष्ठ मित्र बन जाए, वहां परिवार के अन्य सदस्य भी उन्हीं दोनों के इर्द-गिर्द घूमने लगते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है।

4. व्यावसायिक निष्क्रियता

अक्सर देखा गया है कि वृद्धावस्था के दौरान भी कुछ लोग अधिक सक्रिय होते हैं। वे अपनी क्षमता व कार्य कुशलता को प्रदर्शित करने के इच्छुक होते हैं। वे स्वयं को ऐसे उत्पादक और रचनात्मक कार्यों से जोड़ना चाहते हैं जिनके लिए उनके भीतर क्षमता निहित होती है। और जिनका उन्होंने विगत वर्षों में अनुभव-अर्जित किया है। इससे वे धन अर्जित तो करते ही हैं साथ ही उन्हें लोगों की सेवा करने तथा अपनी रचनात्मक प्रवृत्ति द्वारा समाज में सक्रिय योगदान करने का अवसर भी मिलता है। किसी व्यवसाय के साथ स्वयं को जोड़ लेने के बाद वृद्ध व्यक्ति आर्थिक रूप से सुरक्षित महसूस करने लगता है और उसकी अनेक चिन्ताओं का अन्त हो जाता है। उसकी दिनचर्या सुनिश्चित हो जाने के कारण वह न केवल शारीरिक बल्कि मानसिक रूप से भी एक सीमा तक स्वस्थ हो जाते हैं, और उसे प्रसन्नता और मनोवैज्ञानिक सन्तुष्टि का अनुभव होने लगता है।

5. रुचियों में परिवर्तन -

अन्य अवस्थाओं की अपेक्षा वृद्धावस्था में व्यक्ति की इच्छाओं में अद्भुत बदलाव आता है। इन अवस्थाओं में रुचियाँ न केवल संख्या में कम हो जाती हैं, बल्कि उनकी प्रबलता भी घट जाती है। कहा जाता कि किशोरावस्था में व्यक्ति के भीतर असंख्य रुचियाँ पाई जाती हैं और उसके मित्रों की संख्या सर्वाधिक होती है। इसके विपरीत, वृद्धावस्था में व्यक्ति की सामाजिक रुचियों में कमी आ जाती है और उसके मित्रों की संख्या सीमित हो जाती है। वृद्ध व्यक्तियों को रुचि सबसे अधिक अपने स्वास्थ्य और रुपये-पैसे में होता है, भले ही वे

सक्रिय रूप से धन कमाने योग्य नहीं रह जाते। अपने-परिवार में पुत्र-पुत्रियों के विवाह, उनकी नौकरी तथा मकान की समस्याओं में वृद्ध व्यक्ति रूचि प्रदर्शित करता है। धार्मिक क्रियाओं में उसका मन अधिक लगने लगता है। संसार की शेष बातों में उसकी रूचि सामान्य स्तर पर ही रहती है। उसके मित्रों की संख्या भी सीमित रह जाती है। राष्ट्रीय समस्याओं, राजनीति तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों में गिने-चुने वृद्धजन ही वृद्धजन की रूचि रखते हैं जिनमें व्यस्त रहने से उनका समय सुख के साथ व्यतीत होता है। वस्तुतः वृद्धावस्था में व्यक्ति मुख्य रूप से प्रसन्नता और सुख्या की तलाश करता है और उसकी रूचियाँ इन्हीं से सम्बन्धित होती हैं। अतः इस अवस्था में वह बाह्य आडम्बरों तथा अस्थायी प्रलोभनों का परित्याग कर सादा जीवन व्यतीत करना पसन्द करता है।

6. स्मृति क्षमता में कमी

वृद्धावस्था के दौरान लोगों की याद रखने की क्षमता में कमी आने लगती है। इस सन्दर्भ में क्रेक ने एक व्यापक अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला कि वृद्धों में अल्पकालिक स्मृति की अपेक्षा दीर्घकालिक स्मृति में अधिक गिरावट आ जाती है। उदाहरणार्थ एक वृद्ध व्यक्ति कोई टेलीफोन नम्बर सुनने के 20 सेकण्ड बाद उसे बता सकता है, किन्तु एक दिन बाद वह उसे नहीं याद रख पाता। पूर्व में बार-बार दोहराई गई सूचनाओं अथवा घटनाओं को भी व नई सूचनाओं की तुलना में अधिक समय तक याद रख पाता है। जैसे अपने टेलीविजन पर समाचार तथा सीरियलों का समय अथवा अपनी रूचि के कार्यक्रमों का समय और उसका विवरण सरलता से याद रखे जा सकते हैं। इसी प्रकार, एक वृद्ध व्यक्ति घटनाओं की पहचान करने में तो सफल हो जाता है परन्तु उनका प्रत्यक्षीकरण नहीं कर पाता। खराब स्वास्थ्य और निषेधात्मक अभिवृत्ति रखने वाले वृद्ध व्यक्तियों में स्मृति क्षमता का काफी लोप हो जाता है।

7. चिन्तन शक्ति में कमी

वृद्धावस्था के दौरान बौद्धिक गिरावट क्यों और कैसे होती है? इस बात पर मनोवैज्ञानिकों ने भिन्न-भिन्न व्यक्त किये हैं। एक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक वेक्सलर ने तो 30 वर्षों पूर्व ही संकेत दिया था कि प्रौढ़ावस्था तथा वृद्धावस्था के वर्षों में व्यक्ति के भीतर बौद्धिक क्षमता का हास प्रारम्भ हो जाता है। कुछ वर्ष पूर्व विकासात्मक मनोवैज्ञानिकों ने इस सन्दर्भ में कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों को उठाया है। बौद्धिक क्षमता में हास कब शुरू होता है? क्या सभी बौद्धिक पक्षों में हास घटित होता है अथवा केवल कुछ ही में? क्या प्रशिक्षण द्वारा संज्ञानात्मक क्षमता का हास रोका जा सकता है? अनुसंधानकर्ता इन प्रश्नों के उत्तर ढूँढने में व्यस्त हैं। जान हार्न ने प्रदर्शित किया है कि आयु के साथ व्यक्ति की स्पष्ट बुद्धि अर्थात् उसकी संचित सूचनाओं एवं शाब्दिक कौशल में वृद्धि होती है। परन्तु व्यक्ति की गत्यात्मक वृद्धि अर्थात् अमूर्त चिन्तन में हास आता है। कुछ मनोवैज्ञानिक हार्न के उपर्युक्त निष्कर्ष से सहमत नहीं। इस दिशा में जो प्रतिफल मौजूद हैं, उनमें से ज्यादातर एक दूसरे के विरुद्ध हैं।

पाल बाल्टेस ने बौद्धिक क्षमता का जो विश्लेषण किया है उसे सबसे अच्छा माना जा सकता है। उन्होंने कम्प्यूटर के हार्डवेयर और सॉफ्टवेयर पक्षों की कल्पना की है। उन्होंने 'कागनीटिव मेकैनिक्स' और 'कागनीटिव प्रैगमेटिक्स' जैसे संप्रत्ययों का प्रयोग किया है। बाल्टेस ने पहले को बुद्धि का हार्डवेयर और दूसरे को बुद्धि का सॉफ्टवेयर कहा है। मस्तिष्क की स्नायविक और भौतिक संरचना ही 'कागनीटिव मेकैनिक्स' है और इससे सम्बन्धित स्मृति, विभेदन, तुलनात्मक क्षमता, संवर्गीकरण आदि की बौद्धिक क्षमताएं समय के साथ मन्द पड़ने लगती हैं। इसके विपरीत, अन्य बौद्धिक क्षमताएं; जैसे-लिखने-पढ़ने और भाषा समझने की क्षमता, शैक्षिक उपलब्धियाँ तथा व्यावसायिक कुशलता आदि में समय के साथ हास नहीं, बल्कि वृद्धि सम्भव है क्योंकि ये क्षमताएं परिवेशगत हैं और इन पर सांस्कृतिक परिवेश का सीधा प्रभाव पड़ता है। बाल्टेस ने इन्हें 'कागनीटिव प्रैगमेटिक्स' कहा है।

8. वृद्धावस्था में संज्ञानात्मक समस्याएं

वृद्धावस्था में अनेक प्रकार की संज्ञानात्मक समस्याएँ भी पाई जाती हैं। संज्ञानात्मक क्षमता में प्रत्यक्षीकरण, स्मृति, भाषा, प्रत्यय निर्माण, समस्या समाधान, बौद्धिक क्षमता तथा सृजनात्मकता आदि का समावेश माना जाता है। बाल्यावस्था, किशोरावस्था तथा प्रौढ़ावस्था में ये क्षमताएँ उत्तरोत्तर प्रबल होती जाती हैं। परन्तु मध्यावस्था में इन क्षमताओं में सामान्य गिरावट प्रारम्भ हो जाती है। वस्तुतः इस अवस्था के दौरान संज्ञानात्मक क्षमताएं मन्द पड़ जाती हैं और समय के साथ उनमें गिरावट बढ़ती जाती है। इस भाग में वृद्धावस्था के लिए अधिक प्रासंगिक और महत्वपूर्ण संज्ञानात्मक क्षमताओं एवं विशेष रूप में स्मृति और बुद्धि में होने वाली गिरावट पर प्रकाश डाला जाएगा।

4.6 सरांश

सरांश के रूप में प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत व्यस्क अवस्था की अवधारणा से परिचित होने का प्रयास किया गया है। इसके साथ-साथ इस व्यवस्था की विभिन्न अवस्थाओं पर भी प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। प्रस्तुत इकाई में वृद्धावस्था के अर्थ एवं उससे सम्बन्धित परिभाषाओं का वर्णन किया गया है। इसके साथ-साथ वृद्धावस्था के कारण एवं उससे सम्बन्धित समस्याओं पर भी प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

4.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. व्यस्क अवस्था से आपका क्या अभिप्राय है?
2. युवा प्रौढ़ावस्था की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
3. वृद्धावस्था से आप क्या समझते हैं? इसके कारण बताइये।
4. वृद्धावस्था की प्रमुख समस्याएं क्या हैं?

4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. डीसिकों पी जॉन-द साइकोलोजी ऑफ लर्निंग एण्ड इन्स्ट्रक्शन, नई दिल्ली, 1968
2. गुप्ता, एस.पी., आधुनिक शिक्षा मनोविज्ञान, शारदा पब्लिकेशन, इलाहाबाद उत्तर प्रदेश
3. हाॅल, सी.एस. एण्ड लिन्डजे, दि थ्योरीज आॅफ पर्सनैलिटी: बिले, न्यूयार्क 1957
4. मैस्तो, ए.एच., मोटिवेशन एण्ड पर्सनेलिटी, हारपर एण्ड रो, न्यूयार्क, 1954
5. एडलर, ए0, प्राब्लम्स आॅफ न्यूरोसिस, हारपर एण्ड रो न्यूयार्क, 1964
6. कोलमैन, जूल्स वी., साइकोथेराप्यूटिक प्रिन्सिपल्स इन केसवर्क इंटरव्यूक अमेरिकन जर्नल आॅफ साइक्याट्री, 1951
7. आलपोर्ट, एफ.एच., सोशल साइकालोजी, हघटन मिफलिन कं0 वास्टन, 1925

बुद्धिमता

इकाई की रूपरेखा

- 5.0 उद्देश्य
- 5.1 प्रस्तावना
- 5.2 बुद्धिमता का स्वरूप: अर्थ व परिभाषा
- 5.3 बुद्धिमता का वास्तविक अर्थ
- 5.4 बुद्धिमता की विशेषताएँ
- 5.6 बुद्धिमता के प्रकार
- 5.7 बुद्धिमता के सिद्धान्त
- 5.8 सारांश
- 5.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 5.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप:

- बुद्धिमता के वास्तविक अर्थ को जान सकेंगे।
- बुद्धिमता की विशेषताओं को समझ सकेंगे।
- बुद्धिमता के प्रकार एवं सिद्धान्तों को जान सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

बुद्धिमता के कारण मनाव , पशु-पक्षियों से भिन्न एवं सामाजिक –सांस्कृतिक रूप से आगे है। बुद्धिमता से स्तर की भिन्नता के कारण एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से भिन्न होता है, तथा वह जीवन में दूसरों से अधिक प्रगति करता है। बुद्धिमता ,जीवन के प्रत्येक क्षण में विभिन्न गतिविधियों द्वारा प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति को विभिन्न सामाजिक, मनोवैज्ञानिक तथा पर्यावरणीय सन्दर्भों से अनुभूत कराती है। जिनमें सामाजिक प्राणी के रूप में व्यक्ति एक माध्यम की भाँति बुद्धिमता के स्तर तथा प्रणाली से प्रत्येक स्तर को जीवन में सापेक्षित करता है। प्रस्तुत इकाई में बुद्धिमता की प्रणाली एवं स्तर द्वारा मानव व्यवहार को प्रभावित करने वाली मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं की व्याख्या स्पष्ट की गयी है।

5.2 बुद्धिमता का स्वरूप: अर्थ व परिभाषा

‘बुद्धिमता’ शब्द प्राचीन काल में व्यक्ति की तत्परता, तात्कालिकता, समायोजन तथा समस्या समाधान की क्षमताओं के संदर्भ में प्रयोग होता रहा है। सभी व्यक्ति समान रूप से योग्य नहीं होते, मानसिक योग्यता ही उसके असमान होने का प्रमुख कारण है।

बुद्धिमता के अर्थ के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों में सदैव मतभेद रहा है। इस मतभेद का अन्त करने के लिए प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक अनेक अवसरों पर एकत्र हो चुके हैं। 1910 में अंग्रेज मनोवैज्ञानिकों की सभा और 1921 में अमरीकी मनोवैज्ञानिकों की सभा हुई। 1923 में विश्व के मनोवैज्ञानिकों की ‘अन्तर्राष्ट्रीय परिषद्’ हुई। जैसा कि रॉस ने लिखा है- “वे यह निश्चित नहीं कर सके की बुद्धिमता में स्मृति या कल्पना, या भाषा, या अवधान, या गामक ; योग्यता या संवेदना सम्मिलित है या नहीं।”

वस्तुतः प्रत्येक मनोवैज्ञानिक की बुद्धिमता के स्वरूप के सम्बन्ध में अपनी धारणा है, जैसा कि हम निम्नलिखित उद्धरणों के द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं-

वुडवर्थ- “बुद्धिमता , कार्य करने की एक विधि है।”

टरमन- “बुद्धिमता अमूर्त विचारों के बारे में साचने की योग्यता है।”

वुडरो- “बुद्धिमता ज्ञान का अर्जन करने की क्षमता है।”

डीयरबार्न- “बुद्धिमता सीखने या अनुभव से लाभ उठाने की क्षमता है।”

हेनमाँन- “बुद्धिमता में दो तत्व होते हैं।- ज्ञान की क्षमता और निहित ज्ञान।”

बिने- “बुद्धिमता इन चारों शब्दों में निहित है- ज्ञान, आविष्कार, निर्देश और आलोचना।”

थार्नडाइक- “सत्य या तथ्य के दृष्टिकोण से उत्तम प्रतिक्रियाओं की शक्ति ही बुद्धिमता है।”

पिन्टर- “जीवन की अपेक्षाकृत नवीन परिस्थितियों से अपना सामंजस्य करने की व्यक्ति की योग्यता ही बुद्धिमता है।”

कॉलविन- “यदि व्यक्ति ने अपने वातावरण से सामंजस्य करने सीख लिया है या सीख सकता है, तो उसमें बुद्धिमता है।”

रायबर्न- “बुद्धिमता वह शक्ति है, जो हमको समस्याओं का समाधान करने और उद्देश्यों को प्राप्त करने की क्षमता देती है।”

बुद्धिमता से सम्बन्धित ये सभी उद्धरण महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि वे विभिन्न दृष्टिकोणों से बुद्धिमता के स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं। और उनकी किसी-न किसी रूप में व्याख्या करते हैं। इनके अतिरिक्त बुद्धिमता के सम्बन्ध में और भी अनेक अन्य लेखकों की परिभाषाएँ उद्धृत की जा सकती हैं। मोटे तौर पर इन परिभाषाओं के अनुसार, बुद्धिमता निम्न प्रकार की योग्यता है-

➤ सीखने की योग्यता

- अमूर्त चिन्तन की योग्यता
- समस्या का समाधान करने की योग्यता
- अनुभव से लाभ उठाने की योग्यता
- सम्बन्धों को समझने की योग्यता
- अपने वातावरण से सामंजस्य करने की योग्यता

बुद्धिमता की परिभाषाओं में वस्तुतः पारस्परिक विरोध नहीं है, क्योंकि ये सभी एक बात करने की विभिन्न विधियाँ हैं, उदाहरणार्थ, यदि किसी व्यक्ति में अपने अनुभव से लाभ उठाने की योग्यता है तो अपने वातावरण से सामंजस्य कर सकता है। और अपनी कुछ समस्याओं का समाधान कर सकता है। इसी प्रकार, यदि किसी व्यक्ति में अमूर्त चिन्तन योग्यता है, तो उसमें संबंधों को समझने की योग्यता हो सकती है, और यदि वह सम्बन्धों को समझ सकता है तो उसमें सीखने की योग्यता होती है।

5.3 बुद्धिमता का वास्तविक अर्थ

यद्यपि प्रत्यक्ष रूप में, बुद्धिमता की उपर्युक्त परिभाषाओं में विभिन्नता है, पर वास्तव में उनमें विभिन्नता के बताये समानता अधिक है। इसका कारण यह है कि यदि किसी व्यक्ति में छः कार्य में से किसी एक कार्य को करने की योग्यता है, तो उसमें अन्य कार्यों का करने की योग्यता होती है। अतः मनोवैज्ञानिकों का मत है- “बुद्धिमता व्यक्ति की जन्मजात शक्ति है और उसकी सब मानसिक योग्यताओं का योग एवं अभिन्न अंग है।” आधुनिक शिक्षा-जगत में “बुद्धिमता “ का यही अर्थ सर्वमान्य है। इसकी पुष्टि में दो परिभाषाएँ प्रस्तुत की जा रही हैं, यथा-

केलेसनिक- “बुद्धिमता कोई एक शक्ति या क्षमता या योग्यता नहीं है, जो सब परिस्थितियों में समान रूप से कार्य करती है, वरन् अनेक विभिन्न योग्यताओं का योग है।”

रैक्स व नाइट- “बुद्धिमता व तत्व है, जो सब मानसिक योग्यताओं में सामान्य रूप से सम्मिलित रहता है। यह परिभाषा इस शताब्दी की एक सबसे महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक खोज का प्रतिष्ठापन करती है।”

बुद्धिमता के विषय में अब एक नया मत यह विकसित हो रहा है कि बुद्धिमता नामक कोई भी तथ्य नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी क्षमता होती है। किसी कार्य को करने की, क्षमता की भिन्नता ही विभेद करती है। एक व्यक्ति, एक क्षेत्र में अपनी योग्यता तथा क्षमता का लाभ उठाता है तो दूसरा व्यक्ति दूसरे क्षेत्र में लाभ उठाता है। स्टोडर्ड ने इसीलिए बुद्धिमता के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए कहा है- बुद्धिमता वह योग्यता है जिसमें कठिनाई, जटिलता, अमूर्तता, मित्त्वयियात, उद्देश्य के प्रति अनुकूलता, सामाजिक मूल्य, मौलिकता की आवश्यकताओं की विशेषताएँ हों तथा भावात्मक व्यक्तियों के प्रति सहनशील हों।

5.4 बुद्धिमता की विशेषताएँ

बुद्धिमता एक सामान्य योग्यता है। इस योग्यता से व्यक्ति अपने को तथा दूसरे को समझता है। सच यह है कि सामाजिक तथा वैयक्तिक परिवेश में अन्तः क्रियात्मक गतिशीलता तथा क्षमता का नाम बुद्धिमता है। बुद्धिमता की विशेषताएँ इस प्रकार हैं।

1. बुद्धिमता , व्यक्ति की जन्मजात शक्ति है।

2. बुद्धिमता , व्यक्ति को अमूर्त चिन्तन की योग्यता प्रदान करती है।
3. बुद्धिमता , व्यक्ति को विभिन्न बातों को सीखने में सहायता देती है।
4. बुद्धिमता , व्यक्ति को अपने गत अनुभवों से लाभ उठाने की क्षमता देती है।
5. बुद्धिमता , व्यक्ति की कठिन परिस्थितियों और जटिल समस्याओं को सरल बनाती है।
6. बुद्धिमता , व्यक्ति को नवीन परिस्थितियों से सामंजस्य करने का गुण प्रदान करती है।
7. बुद्धिमता , व्यक्ति को भले और बुरे, सत्य और असत्य, नैतिक और अनैतिक कार्यों में अन्तर करने की योग्यता देती है।
8. बुद्धिमता पर वंशानुगत और वातावरण का प्रभाव पड़ता है।
9. बुद्धिमता तथा ज्ञान में अंतर होता है | यद्यपि ज्ञान की प्राप्ति में बुद्धि का बड़ा हाथ होता है , तथापि ज्ञानी व्यक्ति बुद्धिमान भी हो यह आवश्यक नहीं होता है।
10. बुद्धिमता का परिक्षण व्यक्ति के सामने उपस्थित परिस्थिति में उसके कार्य करने की रीति –नीति को देखकर ही किया जा सकता है |

प्रिन्टर के अनुसार- बुद्धिमता का विकास जन्म से लेकर किशोरावस्था के मध्यकाल तक होता है।

कोल एवं ब्रून के अनुसार- लिंग भेद के कारण बालकों और बालिकाओं की बुद्धिमता में बहुत ही कम अन्तर होता है।

5.5 बुद्धिमता के प्रकार

बुद्धिमता का विभाजन करना एक कठिन कार्य है। बुद्धिमता तो वह क्षमता है जिसका उपयोग व्यक्ति विभिन्न परिस्थितियों तथा परिवेश में करता है। इस आधार पर बुद्धिमता का वर्गीकरण विद्वानों ने इस प्रकार किया है-

गैरिट ने तीन प्रकार की बुद्धिमता का उल्लेख किया है, यथा-

1. मूर्त बुद्धिमता - इस बुद्धिमता को 'गामक' या 'यांत्रिक बुद्धि' भी कहते हैं। इसका सम्बन्ध यन्त्रों और मशीनों से होता है। जिस व्यक्ति में यह बुद्धिमता होती है, वह यंत्रों और मशीनों के कार्य में विशेष रूचि लेता है। अतः इस बुद्धिमता के व्यक्ति अच्छे कारीगर, मैकेनिक, इंजीनियर, औद्योगिक कार्यकर्ता आदि होते हैं।
2. अमूर्त बुद्धिमता - इस बुद्धिमता का सम्बन्ध पुस्तकीय ज्ञान से होता है। जिस व्यक्ति में यह बुद्धिमता होती है, वह ज्ञान का अर्जन करने में विशेष रूचि लेता है। अतः इस बुद्धिमता के व्यक्ति अच्छे वकील, डाक्टर, दार्शनिक, चित्रकार, साहित्यकार आदि होते हैं।
3. सामाजिक बुद्धिमता - इस बुद्धिमता का सम्बन्ध व्यक्तिगत और सामाजिक कार्यों से होता है। जिस व्यक्ति में यह बुद्धिमता होती है, वह ज्ञान का अर्जन करने में विशेष रूचि लेता है। अतः इस बुद्धिमता के व्यक्ति अच्छे वकील, डाक्टर, दार्शनिक, चित्रकार, साहित्यकार आदि होते हैं।

थार्नडाइक ने बुद्धिमता का वर्गीकरण इस प्रकार किया है-

1. अमूर्त बुद्धिमता - अमूर्त बुद्धिमता ज्ञानोपार्जन के लिए प्रयोग की जाती है। शब्दों, प्रतीकों, समस्या समाधान आदि के रूप में अमूर्त बुद्धिमता का प्रयोग किया जाता है।
2. सामाजिक बुद्धिमता - इस बुद्धिमता के द्वारा व्यक्ति समाज में समायोजन करता है। विभिन्न व्यवसायों में सफलता प्राप्त करता है।
3. यांत्रिक बुद्धिमता - इस बुद्धिमता की सहायता से व्यक्ति यंत्रों तथा भौतिक वस्तुओं का परिचालन करता है। ऐसे व्यक्ति इंजीनियर, मैकेनिक, तकनीशियन आदि होते हैं।

5.6 बुद्धिमता के सिद्धान्त

बुद्धिमता क्या है वह किन तत्वों से निर्मित है? वह किस प्रकार कार्य करती है? इन प्रश्नों का उत्तर खोजने का अनेक मनोवैज्ञानिकों ने प्रयास किया है। फलस्वरूप, उन्होंने बुद्धिमता के अनेक सिद्धान्त किये हैं, जो उसके स्वरूप पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। इनमें से प्रमुख सिद्धान्त अधोलिखित हैं-

1. एक खण्ड का सिद्धान्त-

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्वप्रथम बिनो (Binet) ने किया था। इस सिद्धान्त के अन्य समर्थक हैं - टर्न और स्टर्न हैं। उन्होंने बुद्धिमता को एक अखण्ड और अविभाज्य इकाई माना है। उनका मत है कि व्यक्ति की विभिन्न मानसिक योग्यताएँ एक इकाई के रूप में कार्य करती हैं। योग्यताओं की विभिन्न परीक्षाओं द्वारा यह मत असत्य सिद्ध कर दिया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार बुद्धि एक अकेली शक्ति है जो व्यक्ति के सभी कार्यों को प्रभावित करती है। यदि एक व्यक्ति कोई एक कार्य को कुशलता एवं बुद्धिमता से करता है तो वह दूसरा कार्य भी उसी कुशलता से कर सकता है। डॉ. जॉनसनके अनुसार, “न्यूटन यदि कविता करने लगता तो वह निश्चित ही एक अच्छा कवि होता।”

2. दो-खण्ड का सिद्धान्त-

इस सिद्धान्त का प्रतिपादक स्पीयरमैन ने सन् 1804 में किया है। उसके अनुसार, व्यक्ति में सम्पूर्ण मानसिक कार्यों के लिए दो प्रकार की बुद्धिमता होती है- सामान्य और विशिष्ट। दूसरे शब्दों में बुद्धिमता के दो तत्व होते हैं- 1. सामान्य योग्यता या सामान्य तत्व, और 2. विशिष्ट योग्यता या विशिष्ट तत्व।

सामान्य योग्यता या सामान्य तत्व- स्पीयरमैन ने सामान्य योग्यता को विशिष्ट योग्यताओं से अधिक महत्वपूर्ण माना है। उसके अनुसार, सामान्य योग्यता सब व्यक्तियों में कम या अधिक मात्रा में मिलती है। इसकी मुख्य विशेषताएँ हैं- 1. यह योग्यता, व्यक्ति में जन्मजात होती है। 2. यह उसमें सदैव एक-सी रहती है। 3. यह उसके सब मानसिक कार्यों में प्रयोग की जाती है। 4. यह प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न होती है। 5. यह जिस व्यक्ति में जितनी अधिक होती है, उतना ही अधिक वह सफल होता है। 6. यह भाषा, विज्ञान, दर्शन, आदि में सामान्य सफलता प्रदान करती है।

विशिष्ट योग्यता या विशिष्ट तत्व- इन योग्यताओं का सम्बन्ध व्यक्ति के विशिष्ट कार्यों से होता है। इनकी मुख्य विशेषताएँ हैं- 1. ये योग्यताएँ अर्जित की जा सकती हैं। 2. योग्यताएँ अनेक और एक-दूसरे से स्वतंत्र होती हैं। 3. विभिन्न योग्यताओं का सम्बन्ध विभिन्न कुशल कार्यों से होता है। 4. ये योग्यताएँ विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न और अलग-अलग मात्रा में होती हैं। 5. जिस व्यक्ति में जो योग्यता अधिक होती है, उसी से संबंधित कुशलता में वह विशेष सफलता प्राप्त करता है। 6. ये योग्यताएँ भाषा, विज्ञान, दर्शन आदि में विशेष सफलता प्रदान करती हैं।

स्पीयरमैन के इस सिद्धान्त को आधुनिक मनोवैज्ञानिक स्वीकार नहीं करते हैं। इसका कारण बताते हुए मन ने लिखा है- “मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि स्पीयरमैन जिसे सामान्य योग्यता कहना है, उसे अनेक योग्यताओं में विभाजित किया जा सकता है।”

3. बहुखण्ड या बहुकारक सिद्धान्त-

स्पीयरमैन के बुद्धिमत्ता के सिद्धान्त पर आगे कार्य करके मनोवैज्ञानिकों ने ‘बहुखण्ड का सिद्धान्त’ प्रतिपादित किया। इन मनोवैज्ञानिकों में थार्नडाइक, गिलफोर्ड तथा कैले (Kelley) के नाम उल्लेखनीय हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार बुद्धि अनेक तत्त्वों या कारकों का योग है। प्रत्येक कारक एक विशिष्ट मानसिक क्षमता का प्रतिनिधित्व करता है जो आपस में स्वतंत्र होते हैं। किन्तु इनके योगदान से ही बुद्धि का निर्माण होता है।

4. थर्सटन का समूह कारक सिद्धान्त :-

थर्सटन ने समूह कारक सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए बुद्धि की व्याख्या कई कारकों के आधार पर की। उनके अनुसार मानसिक क्रियाओं को करने का एव सामान्य प्रधान कारक होता है। साथ ही इन मानसिक प्रक्रियाओं तथा अन्य मानसिक प्रक्रियाओं, जिनका भी प्रधान कारक होता है आपस में सहसंबंधित होती हैं तथा एक साथ मिलकर काम करती हैं। इस समूह का प्रतिनिधित्व करने वाले कारक को प्रधान क्षमता कहते हैं। इसी प्रकार दूसरे तरह की मानसिक प्रक्रियाओं को एक सूत्र में बांधने वाला एक अन्य प्रधान कारक या क्षमता होती है। इस प्रकार प्रत्येक मानसिक प्रक्रियाओं के समूह को आपस में बांधने वाले मानसिक क्षमताओं के समूह का अपना एक अलग प्रधान कारक होता है। थर्सटन ने अपने अनुसंधान में लगभग दर्जनों विभिन्न कारकों को प्रस्तावित किया। उन कारकों में से केवल सात को ही उन्होंने पुष्ट किया जोकि सात प्रधान मानसिक क्षमताएं कहलाती हैं (Primary Mental Ability)। ये प्रधान मानसिक क्षमताएं हैं :-

1. स्मृति क्षमता :- किसी घटना या विषय को जल्द से जल्द याद कर लेने की क्षमता को स्मृति क्षमता कहते हैं।
2. प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक गति क्षमता :- किसी घटना या वस्तु विस्तार का तेजी से प्रत्यक्षण कर लेने की क्षमता को प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक गति क्षमता कहते हैं।
3. सांख्यिकी योग्यता या आंकिक क्षमता :- परिशुद्धता तथा तीव्रता से आंकिक परिकलन करने की क्षमता को सांख्यिकी योग्यता या आंकिक क्षमता कहते हैं।
4. शाब्दिक अर्थ क्षमता :- शब्दों तथा वाक्यों को समझने की क्षमता को शाब्दिक अर्थ क्षमता कहते हैं।
5. तार्किक क्षमता :- वाक्यों या अक्षरों के समूह में छिपे नियमों को समझने की क्षमता को तार्किक क्षमता कहते हैं।
6. स्थान-संबंधी क्षमता :- किसी स्थान में वस्तुओं के परिचालन, उसके दूरी का प्रत्यक्षीकरण करने तथा आकार को पहचानने की क्षमता को स्थान-संबंधी क्षमता कहते हैं।
7. शब्द प्रवाह क्षमता :- दिए गए शब्दों में से असंबंधित शब्द को सोचना तथा अलग करने की क्षमता को शब्द प्रवाह क्षमता कहते हैं।

5.कैटेल का सिद्धांत :-

कैटेल ने बुद्धि संरचना का अध्ययन कारक विश्लेषण विधि द्वारा किया है | कैटेल ने बुद्धि को दो प्रमुख कारकों में विभाजित किया है :-

- (i) तरल बुद्धि :- यह बुद्धि अवाचिक होती है | यह व्यक्ति के सीखने और समस्याओं को हल करने की वंशुनागत क्षमता से सम्बंधित होता है |
- (ii) ठोस बुद्धि:- यह बुद्धि उच्च रूप से संस्कृति पर निर्भर होती है | यह अनुभवों , सीखने तथा वातावरणीय कारकों के परिणामस्वरूप होती है |

कैटेल के अनुसार तरल बुद्धि का विकास किशोरावस्था में अधिकतम होता है परन्तु ठोस भद्दी का विकास

5.7 सारांश

सारांश के रूप में यह कहा जा सकता है कि मनोवैज्ञानिकों ने उपर्युक्त सिद्धान्तों के अलावा बुद्धिमता के सम्बन्ध में और भी सिद्धान्त प्रतिपदित किये हैं पर वे अभी तक न तो बुद्धिमता के स्वरूप और न व्यक्ति की सामान्य एवं विशिष्ट योग्यताओं के बारे में किस निश्चित निष्कर्ष पर पहुंच नाये हैं। बुद्धिमता के सम्बन्ध में आधुनिक विचारधारा को व्यक्त करते हुए व्हिटमर ने लिखा है-“इस बात में बहुत संदेह है कि बुद्धिमता के समान कोई स्वतंत्र इकाई है। अतः यह कहने के बजाय की व्यक्ति में बुद्धिमता है, यह कहना अधिक उपयुक्त है कि वह अधिक बुद्धिमता मत्तापूर्ण व्यवहार करता है।“

5.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. बुद्धिमता को परिभाषित कीजिए।
2. बुद्धिमता की विशेषताओं एवं सिद्धान्तों का विश्लेषण कीजिए।
3. बुद्धिमता के विभिन्न प्रकारों पर प्रकाश डालिए।

5.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. डोलार्ड , जे.एण्ड मिलर, एन.ई., पर्सनाल्टी एण्ड साइकोथेरेपी, मैकग्राहिल, न्यूयार्क, 1950
2. बार्टलेट, एच0, बिल्डिंग सोशल वर्क नालेज, नेशनल एसोसियेशन आफ सोशल वर्कर्स, 1964
3. हाटमैन, हैइनज, इगो साइकोलौजी एण्ड दि प्राब्लम आफ एडेप्टेशन, इंटरनेशनल यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, 1958
4. शास्त्री राजाराम, समाज कार्य, हिन्दी समिति सूचना विभाग उत्तर प्रदेश।

-

अधिगम (सीखना)

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 अधिगम का अर्थ एवं प्रकृति

6.3 सीखने की परिभाषाएँ

6.4 सीखने के निर्धारक

6.5 सीखने को प्रभावित करने वाली समस्यायें

6.6 सीखने के अनिवार्य कारक

6.7 सीखने के प्रकार

6.8 सीखने के नियम

6.9 सारांश

6.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

6.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप:

- सीखना का अर्थ, प्रकृति एवं परिभाषाओं को जान सकेंगे।
- सीखने के निर्धारक एवं प्रभावित करने वाली समस्याओं को समझ सकेंगे।
- सीखने के अनिवार्य कारक, प्रकार एवं नियमों को समझ सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

सामान्य रूप से मनोवैज्ञानिक प्रक्रियायें मनुष्य के प्रारम्भिक जीवन से उसके साथ रहती हैं और समय की अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होती रहती हैं। सीखना एक बहुत ही महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जो मनुष्य जीवन के प्रारम्भ से मृत्यु तक उसे प्रभावित करती रहती है। जिसमें वह सामाजिक व्यवहार, कौशल, ज्ञान, एवं दशाओं को विकसित करता है। अतः प्रस्तुत इकाई में सीखने की प्रकृति, प्रकार एवं नियमों द्वारा मानव व्यवहार को प्रभावित करने वाली मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं की व्याख्या स्पष्ट की गयी है।

6.2 सीखना का अर्थ एवं प्रकृति

सीखना मानव के जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण सामाजिक-मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। यह अनिवार्य प्रक्रिया मानव के जन्म से ही प्रारम्भ होकर मृत्यु तक चलती रहती है। जन्म के कुछ समय पश्चात् जैसे-जैसे उसमें परिपक्वता का विकास होता है, वह जैविकीय प्राणी से सामाजिक प्राणी में परिवर्तित होने लगता है तथा अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए सीखने की प्रक्रिया का आरम्भ होता है। इसके अतिरिक्त जन्म के समय मनुष्य जिन गुणों से प्रभावित होकर व्यवहार करता है, जन्मजात होते हैं। मनुष्य के जन्मजात गुणों में सामाजिक प्रभावों से रूपान्तरण और संशोधन होता रहता है। यह रूपान्तरण तथा संशोधन वस्तुतः सीखना शुरू करने के उपरान्त आरम्भ होता है।

प्रत्येक मनुष्य में कुछ जन्मजात संस्करण तथा प्रवृत्तियाँ होती हैं, जो उसकी प्राथमिक प्रतिक्रिया को निर्धारित करते हैं। इन प्रतिक्रियाओं के द्वारा व्यक्ति अपने को बाह्य वातावरण या समाज के अनुकूल बनाने का प्रयास कर स्वयं को जैविकीय प्राणी से सामाजिक प्राणी में परिवर्तित करता है। इसके लिए व्यक्ति अपने सामाजिक वातावरण की उन सभी प्रतिक्रियाओं को बार-बार अभ्यास के द्वारा सीखने का प्रयास करता है जो वातावरण के लिए उपयुक्त होती है। अतः इस प्रकार वातावरण के प्रति उपयुक्त प्रतिक्रिया को ग्रहण करने की प्रक्रिया को सीखना कहते हैं।

सीख के द्वारा व्यक्ति अनुभव, प्रयत्न तथा प्रशिक्षण के द्वारा उन गुणों को प्राप्त कर लेता है जिनके द्वारा व्यक्ति अपने सामाजिक वातावरण के अनुसार अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है। व्यक्ति के सीखने का अधिकांश भाग भूमिका अधिगम से सम्बन्धित होता है। भूमिका अधिगम या सीख के द्वारा वह समाज के अन्य व्यक्तियों की भाँति व्यवहार करना सीखता है।

सीखने की प्रकृति-

1. यह व्यवहार में परिवर्तन लाता है।
2. सीखना एक समायोजन की प्रक्रिया है।
3. यह अभ्यास के एक परिणाम के रूप में आता है।
4. सीखना एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है। हर एक जीव जो इस धरती पर आया है वह सदैव सीखता रहता है।
5. सीखना एक अपेक्षाकृत स्थायी बदलाव की प्रक्रिया है।
6. सीखना एक निरंतर चलने वाली वृद्धि की प्रक्रिया है।

6.3 सीखने की परिभाषाएँ

किम्बाल यंग ने सीखने को परिभाषित करते हुए कहा है कि “सीखने का तात्पर्य कुशलता, यथार्थता और सामाजिक मूल्यों को अर्जित करने से है जो दूसरे व्यक्तियों के सम्पर्क में रहकर अभ्यास के द्वारा किया जाता है।”

गेट्स के अनुसार “अनुभव द्वारा व्यवहार में होने वाले परिवर्तन को ही सीखना कहते हैं।”

बर्नहट ने सीखने के सन्दर्भ में लिखा है “सीखना व्यक्ति के कार्यों में एक स्थायी संपरिवर्तन लाना है जो निश्चित परिस्थितियों में किसी इच्छा को प्राप्त करने अथवा किसी समस्या को सुझाने के प्रयास में अभ्यास द्वारा लाया जाता है।”

सीकोर्ड और बैकमैन के अनुसार “सामाजिक अधिगम का एक सामान्य रूप भूमिका अधिगम है जिसके अन्तर्गत एक व्यक्ति दूसरे उन व्यक्तियों, जिनकी समान भूमिका स्थिति हैं, के समान व्यवहार करना, अनुभव करना और संसार को समान ढंग से देखना सीखता है।”

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर स्पष्ट होता है कि सीखने में व्यक्ति उन विभिन्न तथ्यों, मूल्यों तथा कौशलों को प्रयासों, अनुभव तथा क्षमता के आधार पर सीखता है जो विभिन्न सामाजिक भूमिकाओं से सम्बन्धित होता है। इस प्रकार सीख के द्वारा व्यक्ति अपने को समाज के अनुकूल बनाकर अन्य व्यक्तियों के समान व्यवहार प्रदर्शन, अनुभव आदि को सीखता है।

6.4 सीखने के निर्धारक

सीख ऐसी प्रक्रिया है जो मानव के जीवन में जीवन पर्यन्त चलती रहती है। मानव के शारीरिक तथा मानसिक विकास के साथ-साथ उसके सीखने की क्षमता में भी वृद्धि होती है। जिसका प्रभाव उसके व्यक्तित्व विकास पर पड़ता है। सीख को प्रभावित करने में अनेक कारक उत्तरदायी होते हैं। इनमें से कुछ मुख्य कारक निम्नलिखित हैं:

1. मनोवैज्ञानिक निर्धारक (Psychological Determinants)

(1) अन्तर्नोद प्रेरणा अथवा चालक (Drive)

अन्तर्नोद वह शक्तिशाली उत्तेजक होता है जो मानव को विशेष कार्य करने के लिए प्रेरित करता है। आइजनेक ने अन्तर्नोद को परिभाषित करते हुए लिखा है कि “चालक वह दैहिक अवस्था या परिस्थितियाँ हैं- जैसे खाने से वंचित रहना, जो व्यवहारिक कार्यक्षमता को बढ़ा देती हैं।” अन्तर्नोद अथवा मानव सीख में घनिष्ठ सम्बन्ध है। अन्तर्नोदों अथवा चालक की उपस्थिति में सीख की प्रक्रिया गतिशील हो जाती है। यह चालक सीखने में प्रेरकों का कार्य करते हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में किम्बाल यंग ने स्पष्ट किया है कि “चालक एक शक्तिशाली उत्तेजक है जो जीव-रचना में किसी प्रकार का असन्तुलन होने से उत्पन्न होता है और इसे एक प्रतिक्रिया करने को बाध्य करता है।” चालक प्राथमिक तथा द्वैतीयक प्रकार के होते हैं। प्राथमिक चालक या अन्तर्नोद वह होते हैं जो व्यक्ति में जन्मजात होते हैं। यह व्यक्ति की प्राथमिक आवश्यकताओं जैसे भूख, प्यास आदि की पूर्ति के लिए प्रेरित करते हैं। द्वैतीयक चालक वह होते हैं जो व्यक्ति को समाज में अपने पद व प्रस्थिति *status* बनाने के लिए प्रेरित करते हैं। द्वैतीयक चालकों का विकास व्यक्ति में धीरे-धीरे होता है। व्यक्ति उच्च पदाधिकारी, वकील, इंजीनियर, डाक्टर आदि बनने के लिए इन्हीं चालकों द्वारा प्रेरित होता है। इन्हीं चालकों अथवा प्रेरणाओं से प्रेरित होकर व्यक्ति कठिन परिश्रम व प्रयासों के द्वारा अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयास करता है।

(2) संकेत (Clue)

संकेत वह उत्तेजक है जो यह निर्धारित करता है कि व्यक्ति किसी अनुक्रिया या प्रक्रिया को कब और कहाँ निर्धारित करेगा। किम्बाल यंग के अनुसार “संकेत इस बात को निश्चित करते हैं कि एक व्यक्ति कब, कहाँ और कौन सी प्रक्रिया करेगा।” जैसे किसी व्यक्ति के अन्तर्नोद या प्रेरणाएं उसे शिक्षक बनने के लिए प्रेरित करती है तो वह इस प्रेरणा को प्राप्त करने के लिए कब, कैसे और किन परिस्थितियों में क्या-क्या प्रयास करेगा यह संकेतों पर निर्भर करता है। संकेत ही यह निर्धारित करते हैं कि व्यक्ति अपने सामाजिक जीवन में कौन से सामाजिक व्यवहार कब और कहाँ सीखेगा।

(3) पुनर्बलन (Reinforcement)

किसी क्रिया को सीखने के लिए व्यक्ति जब बार-बार प्रयास करता है उससे उसमें जो स्थिरता का गुण उत्पन्न होता है उसे पुनर्बलन कहते हैं। पुरस्कार, दण्ड तथा परिणामों का ज्ञान एक प्रकार का पुनर्बलन हैं जो सामाजिक अधिगम को प्रभावित करते हैं। सामान्यता देखा जाता है कि बालक को किसी कार्य को करने के लिए पुरस्कृत किया जाता है तो वह उस कार्य की जल्दी सीख लेता है। इसके विपरीत जब व्यक्ति सामाजिक प्रत्याशों के अनुसार व्यवहार नहीं करता है तो उसे दण्डित किया जाता है। इसलिए व्यक्ति प्रेरणा से प्रेरित होकर किसी अनुक्रिया को बार-बार करने के लिए प्रोत्साहित होता है और पुनर्बलन की इस स्थिति में वह कार्य को सीख जाता है। इस प्रकार सीखनाके लिए पुनर्बलन की क्रिया अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

(4) प्रत्याशा (Expectency)

जब व्यक्ति किसी वस्तु व्यवहार या घटना की प्रत्याशा करता है तो व्यक्ति इस अवस्था में उस घटना या व्यवहार से सम्बन्धित सभी पक्षों को बहुत जल्दी सीख लेता है। क्योंकि प्रत्याशा की अवस्था में व्यक्ति उत्तेजना पर अधिक ध्यान देता है और उसी उत्तेजना को शान्त करने के लिए शीघ्र अति शीघ्र उससे सम्बन्धित व्यवहार को सीख लेता है। प्रत्याशायुक्त प्रतिक्रियाएं (Anticipatory Reactions) व्यक्ति को प्रलोभनों से बचाती है।

(5) अभ्यास (Practice)

किसी भी कार्य को दृढ़ता से सीखने के लिए अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है। व्यक्ति की सीखने की क्षमता अभ्यास पर ही निर्भर होती है। इस का व्यक्ति की सीख पर धनात्मक प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति जैसे-जैसे अभ्यास करता है उसकी सीख दृढ़ होती जाती है जैसे बालक किसी पाठ को सीखने के लिए उस पर बार-बार अभ्यास करता है तब वह उसे अच्छी प्रकार सीख पाता है।

(6) सामान्यीकरण और विभेदीकरण (Generalization and Differentiation)

सामान्यीकरण का अर्थ है कि किसी एक सामाजिक व्यवहार को सीख लेने के पश्चात् व्यक्ति उससे सम्बन्धित अन्य व्यवहारों पर अनुभव के आधार पर उसी समान प्रतिक्रियाएँ करता है। जैसे बच्चों को कक्षा में शिक्षकों के द्वारा गणित की एक सवाल हल कराना सीखने के पश्चात् उससे मिलते-जुलते अन्य सवालों को शिक्षक बच्चों से स्वयं हल करने को कहता है। बालक अपने पूर्व सवाल ज्ञान के आधार पर अन्य सवालों को हल करता है। इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण जैसे कच्चे आमों को खाने के पश्चात् यह निर्णय निकालते हैं कि कच्चे आम खट्टे होते हैं। सामान्यीकरण के द्वारा व्यक्ति किसी उत्तेजना के प्रति प्रतिक्रिया को सीख लेता है तथा उससे मिलती-जुलती अन्य अनेक उत्तेजनाओं के प्रति उसी प्रकार से प्रतिक्रियाएँ करता है। सामान्यीकरण के द्वारा ही पुराने और नये अनुभवों में व्यक्ति श्रेणीकरण करता है। इसके द्वारा ही प्राचीन अनुभवों का लाभ उनकी नवीन समस्याओं को हल करना है। किसी समय विशेष का ज्ञान सामान्यीकरण द्वारा उचित होता है।

सामान्यीकरण में जहाँ मनुष्य समान वस्तुओं और प्रक्रियाओं में सामान्यीकरण करता है वही इसके विपरीत विभेदीकरण असमान वस्तुओं में विभेद करता है, अर्थात् उनके मध्य परस्पर तुलना कर अन्तर को स्पष्ट करता है।

2. दैहिक निर्धारक (Physiological Determinant)

सीखना केवल मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया न होकर दैहिक प्रक्रिया भी है, इससे शारीरिक क्रियाओं में भी परिवर्तन होता है। सीख या अधिगम में महत्वपूर्ण शारीरिक कारक निम्नलिखित हैं:

(1) थकान (Fatigue)

थकान की अवस्था में व्यक्ति में सीखने की क्षमता बहुत कम हो जाती है और जो कुछ सीखा भी जाता है वह शीघ्र ही विस्तृत हो जाता है। थकान दूषित पदार्थों की उत्पत्ति या आक्सीजन के अभाव या अन्य कारणों से पैदा होती है। व्यक्ति में शारीरिक थकान मानसिक थकान को उत्पन्न करती है। जो सीखने की प्रक्रिया को प्रभावित करती है। थकान व्यक्ति की कार्यक्षमता को कम कर देती है जिससे व्यक्ति का कार्य में मन नहीं लगता है।

(2) आयु और परिपक्वता (Age and Maturity)

किसी भी कार्य को सीखने के लिए एक निश्चित परिपक्वता की आवश्यकता होती है जो कि विशेष आयु पर ही आती है। आयु बढ़ने के साथ-साथ परिपक्वता का विकास होता जाता है। आयु बढ़ने से जब व्यक्ति में कार्य करने की परिपक्वता उत्पन्न हो जाती है वह कार्य को बिना किसी प्रयास के जल्दी सीख लेता है। आयु तथा परिपक्वता के विकास के साथ-साथ बालक समाज के सरल व्यवहारों के सीख से समाज के जटिल व्यवहारों के सीख की ओर अग्रसित होता है। कोई भी बालक या व्यक्ति समाज के सभी मूल्यों, विचारों, धारणाओं तथा मानकों आदि को कोई निश्चित आयु अवस्था में नहीं सीख सकता है। वह भिन्न-भिन्न आयु अवस्था में अपनी परिपक्वता के आधार पर भिन्न-भिन्न मूल्यों, विचारों तथा सामाजिक प्रतिमानों को सीखता है। इस प्रकार सीखना आयु तथा परिपक्वता पर निर्भर करता है।

(3) अन्तःस्त्रावी ग्रन्थियाँ (Endocrine Glands)

अन्तःस्त्रावी ग्रन्थियों से निकलने वाला स्त्राव रक्त में मिलता है। जो व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करता है। जब अन्तःस्त्रावी ग्रन्थियों का कार्य समान होता है तब व्यक्ति का व्यवहार और सम्बन्धित क्रियाएं भी सामान्य होती हैं। इन ग्रन्थियों से निकलने वाले स्त्राव की अधिकता या कमी सीख को प्रभावित करती है। जब किसी व्यक्ति की थायराइड ग्रन्थि (ज्वीतवपक व्संदक) नष्ट हो जाती है तो व्यक्ति के मस्तिष्क और मासंपेशियों की क्रियाएं मन्द पड़ जाती हैं तथा उसके चिन्तन करने तथा सीखने की क्रिया मन्द हो जाती है। इसी प्रकार अग्नाशय ग्रन्थि असामान्य रूप से कार्य करती है तो व्यक्ति के स्वभाव में चिड़चिड़ापन उत्पन्न हो जाता है जो सीखने में बाधक होता है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि सीखने की प्रक्रिया अन्तःस्त्रावी ग्रन्थियों के कार्य से प्रभावित होती है।

(4) केन्द्रीय नाड़ी तंत्र (Central Nervous System)

केन्द्रीय नाड़ी तंत्र के दो प्रमुख भाग मस्तिष्क (Brain) और मेरूदण्ड या सुषुम्ना नाड़ी (Spinal Cord) हैं। इनके सामान्य स्थिति में कार्य न करने पर सीखने की क्रिया भी सामान्य रूप से नहीं चल पाती है। उच्च सीख से सम्बन्धित सीखने की प्रक्रियाओं का संचालन मस्तिष्क का अग्र भाग (Frontal Lobe) करता है। किसी व्यक्ति के मस्तिष्क के इस भाग को यदि क्षतिग्रस्त कर दिया जाए तो वह थोड़ी देर पहले सीखी हुई क्रियाओं को भूल जाता है। सरल और पहले सीखी हुई क्रियाओं का संचालन तथा नियन्त्रण मेरूदण्ड अथवा सुषुम्ना नाड़ी करती है। प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धि, स्मृति, तर्क आदि मानसिक क्रियाओं का सम्बन्ध मस्तिष्क के विभिन्न भागों से होता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रत्येक प्रकार की सीख में केन्द्रीय नाड़ी संस्थान के इन दो भागों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है।

(5) रोग (Diseases)

सीखनाको शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार के रोग प्रभावित करते हैं। यह व्यक्ति के सीखने की क्रिया में बाधक होते हैं। अस्थायी शारीरिक रोगों की अपेक्षा स्थायी शारीरिक रोग सीखनाको अपेक्षाकृत अधिक प्रभावित करते हैं।

(6) औषधियाँ और नशीली वस्तुएँ (Drug and Intoxicants)

नशीले पदार्थों जैसे शराब, भाँग, अफीम, तम्बाकू आदि व्यक्ति के सीखनाको अत्यधिक प्रभावित करता है। नशे की अवस्था में व्यक्ति की सीख की प्रक्रियाएँ अवरूद्ध हो जाती हैं। अत्यधिक नशे के सेवन से व्यक्ति का मस्तिष्क कमजोर होने लगता है तथा उसमें सीखने की क्षमता क्षीण होने लगती है। कुछ औषधियाँ व्यक्ति के सीखने की क्षमता में वृद्धि करती हैं।

(3) सामाजिक निर्धारक (Social Determinants)

मानव के सीखने की प्रक्रिया में सामाजिक निर्धारक भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं इनमें से कुछ निम्न हैं।

(1) अनुकरण (Limitation)

मानव के अर्जित व्यवहार में अनुकरण महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। किम्बाल यंग के अनुसार “अनुकरणऐसी क्रिया करना है जो किसी अन्य व्यक्ति की क्रिया के समान या उससे मिलती-जुलती है।” बचपन में बालक अनुकरण के द्वारा ही सामाजिक व्यवहारों को सीखता है। वह अपने माता-पिता, परिवारजन तथा साथ खेलने वाले मित्रों आदि को जैसा व्यवहार करते देखता है स्वयं भी वैसा ही करने लगता है। अतः अनुकरण वह क्रिया है जो किसी व्यक्ति की क्रिया को देखकर स्वयं उसी प्रकार का व्यवहार या क्रिया करना है।

(2) सुझाव या निर्देश (Suggestion)

मैकडूगल⁷ के अनुसार “निर्देश संवहन की एक प्रक्रिया है जिसके फलस्वरूप किसी व्यक्ति द्वारा दिया गया प्रस्ताव बिना किसी तर्क के शीघ्र ही स्वीकार कर लिया जाता है।” किसी योग्य या शिक्षित व्यक्ति द्वारा दिये गये सुझाव या निर्देश पर बिना अधिक विचार किये उसी रूप में ग्रहण कर लेना निर्देश है। इसके अनुसार व्यक्ति दूसरों के द्वारा दी गयी सीख के आधार पर व्यवहार करना सीख जाता है। किम्बाल यंग ने इसी परिप्रेक्ष्य में लिखा है कि निर्देश शब्दों, चित्रों या इसी प्रकार के किसी दूसरे माध्यम द्वारा दिया जाने वाला वह सन्देश है जो प्रमाण या तर्क के बिना स्वीकार कर लिया जाता है। जैसे टैफिक लाइट द्वारा दिये गये निर्देशों के आधार पर टैफिक नियमों का पालन करना। समाज की प्रथाएँ, परम्पराएँ, लोकाचार तथा नियम कानून आदि भी व्यक्ति को नियन्त्रण में रखकर समाज के अनुरूप व्यवहार की सीख का निर्देश देते हैं। जिससे व्यक्ति अच्छे समाज के अनुकूल सामाजिक गुणों को सीखता है।

(3) सहानुभूति (Sympathy)

जिस कार्य के लिए व्यक्ति को दूसरों से सहानुभूति प्राप्त होती है वह उन कार्यों को जल्दी सीख लेता है। अकोलकर के अनुसार “सहानुभूति से व्यक्ति उन्हीं संवेगों का अनुभव करता है जिन संवेगों का अनुभव हमारा साथी व्यक्ति करता है।” सहानुभूति व्यक्ति के सीखने की क्रिया में अत्यन्त सहायक होती है। जैसे बाल्यावस्था में बालक को किसी क्रिया को सीखने में माता-पिता तथा परिवार के सदस्यों द्वारा सहानुभूति प्राप्त होती है तो बालक उस कार्य में

असफल होने के पश्चात् भी बार-बार के प्रयास द्वारा उस क्रिया को सीख कर सफलता प्राप्त करने में सक्षम हो जाता है। सहानुभूति व्यक्ति में सीखने की क्षमता में वृद्धि करने में सहायक होती है।

(4) सहयोग (Co-operation)

सीख की प्रक्रिया में सहयोग एक महत्वपूर्ण कारक है। व्यक्ति के जैविकीय प्राणी से सामाजिक प्राणी में परिवर्तित होने में दी जाने वाली प्राथमिक सीख में सहयोग की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। बाल्यावस्था में बालक अपने माता-पिता का हाथ पकड़कर उनके सहयोग से उठना, बैठना, चलना आदि सीखता है और धीरे-धीरे इसी सहयोग के माध्यम से सामाजिक ज्ञान को सीखकर अपने को जैविकीय प्राणी से सामाजिक प्राणी में परिवर्तित करता है। किम्बाल यंग के अनुसार जिन समाजों में सहयोग को अधिक महत्व दिया जाता है, उनमें व्यक्तियों की कार्यकुशलता और कार्य करने की प्रेरणा अधिक पायी जाती है। इसके विपरीत व्यक्तिवादिता को महत्व मिलने से व्यक्तियों की कार्यक्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(5) प्रतिस्पर्धा (Competition)

प्रतिस्पर्धा व्यक्ति में सीख की प्रक्रिया की गति को तीव्र कर देती है। प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से आगे निकलने की होड़ में अधिक परिश्रम तथा प्रयास करता है, जो सीखने की प्रक्रिया को तीव्र करने में सहायक होती है। साथ ही प्रतिस्पर्धा व्यक्ति में नई सोच और अनुभवों को जन्म देती है जो व्यक्ति की सीख की प्रक्रिया में सहायक होते हैं।

(6) सामाजिक प्रोत्साहन (Social Encouragement)

व्यक्ति को समय-समय पर समाज द्वारा प्रोत्साहित किये जाने पर वह सामाजिक मूल्यों, मानकों तथा व्यवहारों आदि को अत्यधिक शीघ्रता से सीख लेता है। जिस समाज में व्यक्तियों को सामाजिक प्रोत्साहन के रूप में जितनी सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं व्यक्तियों की कार्यकुशलता तथा सीखने की प्रक्रिया में उतनी ही वृद्धि होती है। जैसे समाज के रीति-रिवाज, परम्पराएँ, मूल्य, नियम-कानून तथा संस्कृति आदि व्यक्ति को समाज के अनुरूप अपने व्यवहार को बनाने की सीख देते हैं। व्यक्ति समाज में उच्च व्यक्तियों के व्यवहारों, सामाजिक स्थिति तथा प्रतिष्ठा से प्रोत्साहित होकर स्वयं उसी के अनुरूप बनने की प्रेरणा ग्रहण करता है। सामाजिक प्रोत्साहन व्यक्ति की कार्यकुशलता में वृद्धि कर व्यक्ति को सीखने के लिए प्रेरित करते हैं। यही कारण है कि सामाजिक प्रोत्साहन सीख की प्रक्रिया का महत्वपूर्ण कारक है।

(7) प्रशंसा और निन्दा (Praise and Blame)

सीखने की प्रक्रिया को प्रशंसा और निन्दा अत्यधिक प्रभावित करती है। जब कोई व्यक्ति सामान्यता समाज के सामाजिक मूल्यों, नियमों तथा परम्पराओं आदि के अनुरूप व्यवहार करता है तो समाज के सदस्यों द्वारा उसकी प्रशंसा की जाती है तथा उसे विभिन्न पुरस्कार तथा सामाजिक प्रोत्साहन प्रदान किये जाते हैं। जिससे दूसरे व्यक्ति भी प्रेरित होकर ऐसे व्यवहारों को सीखने का प्रयास करें। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति सामाजिक मूल्यों, नियमों परम्पराओं अथवा सामाजिक प्रत्याशाओं के विपरीत सामाजिक व्यवहारों को सीखता है तो समाज द्वारा उसका बहिष्कार किया जाता है तथा उसके व्यवहारों की निन्दा कर उसे रोकने का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार व्यक्ति का सामाजिक व्यवहार व्यक्ति की सीखनापर प्रभाव डालता है।

(4) वातावरण सम्बन्धी कारक (Environmental Determination)

वातावरण का व्यक्ति की सीख पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। शान्त, स्वच्छ तथा सुखद वातावरण में व्यक्ति सीखने की क्षमता में वृद्धि हो जाती है। वहीं अत्यधिक शोरगुल, अशान्त, दुखद तथा अस्वच्छ वातावरण, प्रकाश की कमी, वायु का अभाव तथा दुर्गन्धपूर्ण वातावरण में व्यक्ति की कार्यकुशलता में ह्रास होने लगता है। व्यक्ति की कार्यकुशलता तथा सीखने की क्षमता में वृद्धि आराम, भोजन, स्वच्छ वातावरण तथा सीखने के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों द्वारा ही हो सकती है।

6.5 सीखने को प्रभावित करने वाली समस्यायें

सीखना एक गतिशील क्रिया है यह क्रियाहीन ज्ञान का शोषण नहीं है। वास्तविक सीखना अपने अनुभवों को उपयोगी बनाना है। क्रिया द्वारा सीखने का वस्तु के साथ सीधा सम्बन्ध होता है। सीखने में प्राणी अपने वातावरण में प्रतिक्रिया करता है। चालकों के आन्तरिक अनेकों कारक मनुष्यों की सीखने की क्रिया को प्रभावित करते हैं जो इस प्रकार हैं:-

1. मनोवैज्ञानिक समस्यायें
2. सामाजिक समस्यायें
3. शारीरिक समस्यायें
4. वातावरण सम्बन्धी समस्यायें

6.6 सीखने के अनिवार्य कारक

(1) प्रौढ़ता (Maturity)

प्रौढ़ता अथवा परिपक्वता एक स्वाभाविक क्रिया है। बोरिंग के अनुसार “प्रौढ़ता एक गौणविकास है जिसका अस्तित्व सीखी जाने वाली क्रिया व्यवहार के पूर्व होना आवश्यक है। शारीरिक क्षमता के विकास को ही परिपक्वता अथवा प्रौढ़ता कहते हैं। यह देखा गया है कि जब तक शरीर के विभिन्न अंग और उनकी माँसपेशियाँ परिपक्व नहीं होती हैं, व्यवहार का संशोधन नहीं हो सकता। किसी व्यक्ति के सीखने के लिए आवश्यक है कि उस व्यक्ति में उचित शारीरिक और मानसिक प्रौढ़ता हो।”

शारीरिक तथा मानसिक प्रौढ़ता से व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन होते हैं। प्रौढ़ता में वृद्धि के साथ-साथ सीखने की क्षमता में वृद्धि होती जाती है।

(2) उत्तेजक और प्रत्युत्तर (Stimulus and Response)

उत्तेजक और प्रत्युत्तर सीखने की प्रक्रिया के महत्वपूर्ण कारक हैं। जब मनुष्य को उत्तेजना प्राप्त होती है तो वह उसके प्रति प्रत्युत्तर भी करता है। जैसे व्यक्ति को भूख लगना एक उत्तेजक है और इसकी पूर्ति के लिए वह प्रत्युत्तर के रूप में भोजन कर उत्तेजना को शान्त करता है। उत्तेजना तथा प्रत्युत्तर वातावरण की प्रक्रिया के साथ-साथ बदलते रहते हैं। प्रत्युत्तर का यह रूपान्तरण सीखने में सहायक होता है जो जन्म से प्रारम्भ हो जाता है।

(3) आदत परिवार (Habit Families)

मानव व्यवहार का कोई स्थायी स्वरूप नहीं होता। इसकी प्रकृति अस्थिर और परिवर्तनशील होती है। मानव का व्यवहार आदत पर निर्भर करता है। सामान्यता: वह जिस वातावरण में रहता है उसी के अनुसार व्यवहार करने लगता है। जो धीरे-धीरे उसकी आदत में परिवर्तित हो जाता है। आदतों का निर्माण चेतन स्तर से प्रारम्भ होता है,

परन्तु बार-बार सीख और अभ्यास के कारण यह स्वतः संचालित होने लगती है जैसे बचपन में बालक का झूठ बोलने की स्थिति में दण्ड न मिलने पर बार-बार के प्रयास द्वारा उसका झूठ बोलना उसकी आदत बन जाती है। इस प्रकार किसी एक समूह में सीख की प्रक्रिया को देखकर ही यह बतलाया जा सकता है कि वहाँ आदत-परिवार के मौलिक लक्षण क्या होंगे।

6.7 सीखने के प्रकार

व्यक्ति में सीखने की क्षमता विकसित होने के लिए अनेक कारक उत्तरदायी है-

(1) निरीक्षण से सीखना

निरीक्षण का अभिप्राय सीखने की क्रिया को मूर्त वस्तुओं से प्रारम्भ करना है। यह प्रत्यक्षीकरण का ही रूप है। निरीक्षण के अन्तर्गत व्यक्ति प्रतिरूपों के अनुभव, परिणामों तथा व्यवहारों का निरीक्षण कर उसी के आधार पर अपने व्यवहारों को परिवर्तित करने का प्रयास करता है जैसे: बालक-बालिकाएँ फिल्मों में अपनी पसंदीदा हीरो-हिरोइनों को देखकर उन्हीं के अनुसार अपने बालों, कपड़ों, व्यवहारों आदि को भी परिवर्तित कर लेते हैं। अतः निरीक्षण का अभिप्राय किसी वस्तु पर ध्यान को केन्द्रित करना होता है। केन्द्रीकरण से प्रत्यक्षीकरण और स्पष्ट हो जाता है।

(2) प्रयास और त्रुटि से सीखना

इसके अन्तर्गत किसी क्रिया को बार-बार करने का प्रयास किया जाता है, जो क्रिया असफल होती है उसे छोड़ दिया जाता है और जो सफल होती है उसे ग्रहण किया जाता है। इसलिए इसे सफल क्रियाओं द्वारा सीखना भी कहते हैं। प्रयास एवं त्रुटि का आधार बौद्धिकता एवं तार्किकता होता है। व्यक्ति बार-बार के प्रयास द्वारा गलतियों को सुधार कर बौद्धिक क्षमता का प्रयोग करते हुए प्रयासों को सफल करने का प्रयास करता है। इसमें व्यक्ति अपनी स्थिति की सामान्य चेतना द्वारा सीखने का प्रयास करता है।

(3) परिस्थितिगत प्रतिक्रिया से सीखना

किसी प्राणी को जब एक निश्चित परिस्थिति में एक विशेष प्रकार का व्यवहार करना सिखाया जाता है, तो उस प्रकार की परिस्थिति जब कभी भी उत्पन्न होती है तो वह ठीक वैसा ही व्यवहार करने लगता है। इवान पावलाव के प्रयोग से स्पष्ट होता कि जब वह पहले कुत्तों का खाना देने के लिए घण्टी बजाते थे तो धीरे-धीरे कुत्ते इस परिस्थिति से इतना परिचित हो गये कि कभी भी घण्टी बजाने पर खाना खाने के लिए उपस्थित होने लगे। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि परिस्थितिगत प्रतिक्रिया व्यक्ति के सीखने की प्रक्रिया में सहायक होता है।

(4) सूझ से सीखना

व्यक्ति अपनी सूझ से सीखता है। सूझ का अर्थ निरीक्षण क्रिया का अन्त है। जिसमें वस्तु सम्बन्धी सही जानकारी प्राप्त कर ली जाती है। सूझ के द्वारा व्यक्ति कार्य में आने वाली समस्याओं को दूर कर लक्ष्य प्राप्ति का प्रयास करता है। उसे प्राप्त करने के तरीके खोजता है तथा स्थिति को समझ कर उसके विरुद्ध क्रिया का चुनाव करता है।

सूझ के अन्तर्गत सीखने की प्रक्रिया में समस्या का पूर्ण प्रस्तुतीकरण होना चाहिए। जैसे यदि शिक्षक बच्चे को पौधे के सन्दर्भ में बताना चाहते हैं तो बच्चे को पूरा पौधा दिखाकर उस पौधे के विभिन्न भागों के बारे में सीख देते हैं। सीखने में गतिशीलता होनी चाहिए। जो ज्ञानात्मक तथा संवेगात्मक तत्परता पर निर्भर करता है।

(5) प्रतीकों द्वारा सीखना

किम्बाल यंग के अनुसार “प्रतीकात्मक सीखना सबसे जटिल तथा सबसे श्रेष्ठ प्रकार का सीखना है। इसी प्रकार से सीखना प्रथमतः हमारी मानसिक क्रियाओं पर निर्भर होता है, जो हमें बुद्धिमत्तापूर्वक निर्णय लेने तथा तर्क करने का सामर्थ्य प्रदान करते हैं।” जैसे व्यक्ति सड़क पर टैफिक सिग्नल के प्रतीकों को समझ कर यातायात नियमों का पालन करता है। प्रतीकों द्वारा सीखने का ज्ञान केवल मानव स्तर पर ही पाया जाता है। इसमें प्रत्येक शब्द या वस्तु एक विशिष्ट विचार की प्रतीक होती है। प्रतीकों द्वारा सीखने की क्षमता मानव के बौद्धिक स्तर पर निर्भर करती है।

6.8 सीखने के नियम

(1) अभ्यास का नियम

व्यक्ति अपने कार्यों को अभ्यास द्वारा सीखता है। किसी कार्य की बार-बार पुनरावृत्ति करने पर व्यक्ति उसे सीख जाता है और वह व्यक्ति के व्यवहार का अंग बन जाती है। अभ्यास द्वारा कार्य की शक्ति बढ़ जाती है। अभ्यास के द्वारा की गई क्रिया व्यक्ति के मस्तिष्क में दृढ़ हो जाती है। मानवीय मस्तिष्क बार-बार प्रयोग में आने वाली वस्तुओं को धारण कर लेता है। जिस क्रिया की जितनी अधिक आवृत्तियां होती है उसका मानव के ऊपर उतना अधिक प्रभाव पड़ता है। प्रभाव की अधिकता से क्रिया का लम्बे समय से उपयोग नहीं किया गया है परन्तु उसके प्रति यदि आकर्षण है तो वह आकर्षण क्रिया के प्रभाव में वृद्धि करता है।

(2) प्रभाव का नियम

प्रभाव का नियम मुख्य रूप से परीक्षण और त्रुटि के प्रकार पर आधारित है। इस नियम का प्रतिपादन थार्नडाइक ने किया था। इसके अन्तर्गत मनुष्य अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अनेक क्रियाएं करते हैं। जिन क्रियाओं को करने में उसे सफलता प्राप्त होती है तथा जिसके परिणाम सुखद होते हैं, उन क्रियाओं को व्यक्ति बार-बार दोहराता है। क्योंकि सुखप्रद परिणाम व्यक्ति में शक्ति का संचार करते हैं जिससे व्यक्ति उस कार्य को करने के लिए अधिक प्रेरित होता है। इसके विपरीत जिन कार्यों के द्वारा वह अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने में असफल होता है। वह व्यक्ति को कष्ट प्रदान कर निर्बल बना देते है। जैसे- बचपन में बालक बार-बार के प्रयास के द्वारा गिर-गिर कर चलना सीखता है। इसी प्रकार प्रयास और त्रुटि के द्वारा वह पढ़ना-लिखना, बोलना आदि सीखता है। बच्चों के अलावा बड़े भी किसी नये कार्य को प्रयास और त्रुटि के द्वारा सीखते हैं।

(3) परिस्थितिगत प्रतिक्षेप का नियम

इस सिद्धान्त के प्रतिपादक इवान पैवलोव थे, इन्होंने इस सम्बन्ध में अनेक प्रयोग किये। परिस्थितिगत प्रतिक्षेप के अन्तर्गत जब किसी प्राणी को निश्चित परिस्थिति में, एक निश्चित प्रकार का व्यवहार करना सिखाया जाता है। जब कभी भी वह परिस्थिति उसके सामने आती है तब वह वैसा ही व्यवहार करता है। पावलव के प्रयोग से स्पष्ट होता है कि वह कुत्तों को भोजन से पूर्व नियमित रूप से घण्टी देते थे। इस प्रकार धीरे-धीरे घण्टी की आवाज से कुत्तों के मुख से लार गिरने लगती थी।

(4) पुरस्कार या दण्ड का नियम

पुरस्कार या दण्ड के नियम के अन्तर्गत समाज में व्यक्ति को अच्छा कार्य करने पर उसे प्रेरित करने के लिए पुरस्कार प्रदान किया जाता है। वहीं किसी व्यक्ति द्वारा समाज विरोधी या गलत कार्य करने पर उसके कार्यों पर नियन्त्रण रखने के लिए व्यक्ति के लिए दण्ड का प्रावधान है। इस प्रकार व्यक्ति के व्यवहारों में परिवर्तन लाया जाता है तथा उसे समाज के अनुकूल अच्छे कार्यों को करने के लिए प्रेरित किया जाता है।

6.9 सारांश

सारांश के रूप में प्रस्तुत इकाई में सीखना का अर्थ एवं प्रकृति को जानने का प्रयास किया गया है। इसके साथ-साथ सीखने के निर्धारक, प्रभावित करने वाली समस्याएँ, अनिवार्य कारक, प्रकार तथा उसके नियमों को भी जानने का प्रयास किया गया है।

6.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. सीखने से आपका क्या अभिप्राय है?
2. सीखने के निर्धारक तथा उसको प्रभावित करने वाली समस्याओं पर प्रकाश डालिए।
3. सीखने के विभिन्न प्रकारों को स्पष्ट कीजिए।

6.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. एडलर, ए0, प्रॉब्लम्स ऑफ न्यूरोसिस, हारपर एण्ड रो न्यूयार्क, 1964
2. डोलाई, जे.एण्ड मिलर, एन.ई., पर्सनैल्टी एण्ड साइकोथैरेपी, मैकग्राहिल, न्यूयार्क, 1950
3. कोलमैन, जूल्स वी., साइकोथेराप्यूटिक प्रिन्सिपल्स इन केसवर्क इंटरव्यूक अमेरिकन जर्नल ऑफ साइक्याट्री, 1951
4. हाटमैन, हैइनज, इगो साइकोलौजी एण्ड दि प्रॉब्लम आफ एडेप्टेशन, इंटरनेशनल यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, 1958
5. आलपोर्ट, एफ.एच., सोशल साइकालोजी, हघटन मिफलिन कं0 वास्टन, 1925
6. बार्टलेट, एच0, बिल्डिंग सोशल वर्क नालेज, नेषलन एसोसियेशन आफ सोशल वर्कर्स, 1964

प्रेरणा

इकाई की रूपरेखा

- 7.0 उद्देश्य
- 7.1 प्रस्तावना
- 7.2 प्रेरणा
- 7.3 सम्प्रेरणा के प्रकार
- 7.4 सम्प्रेरणा के सिद्धान्त
- 7.5 सारांश
- 7.6 अभ्यास प्रश्न
- 7.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

7.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप:

1. प्रेरणा की परिभाषाओं को जान सकेंगे।
2. प्रेरकों की विशेषता एवं आवश्यकता के बारे में जान सकेंगे।
3. सम्प्रेरणाओं के प्रकार एवं सिद्धान्तों के बारे में जान सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

प्रेरणा व्यक्ति के जीवन में एक आवश्यकता की तरह होती है प्रेरणा के द्वारा व्यक्ति अन्य व्यक्ति से अच्छी आदतों को ग्रहण करता है तथा आगे बढ़ने के लिए प्रेरित होता है। अभिप्रेरणा व्यक्ति की वह आन्तरिक स्थिति है जो कार्य करने के लिये शक्ति प्रदान करती है, प्रेरित करती है जिससे व्यक्ति अपने लक्ष्य प्राप्ति में सतत लगा रहता है। प्रेरणाएं व्यक्ति के लक्ष्य प्राप्ति के साधनों तथा दिशाओं को निर्धारित करती हैं।

7.2 प्रेरणा

मानव की प्रत्येक क्रिया का संचालन अभिप्रेरकों द्वारा होता है। यह वह आन्तरिक शक्ति या कारक होता है जो व्यक्ति में कार्य करने की प्रवृत्ति को जागृत करता है। सम्प्रेरणा व्यक्ति के अभिप्रेरित व्यवहार को प्रोत्साहित करती है, दिशा प्रदान करती है तथा उसके स्थैर्य की मात्रा को निश्चित करती है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर कोई न कोई अभिप्रेरणा अवश्य विद्यमान होती है जिसके प्रभाव से वह प्रेरित होकर तब तक कार्य करता है जब तक लक्ष्य की प्राप्ति न हो जाए। व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित, निर्देशित योगदान और रूपान्तरित करने की दृष्टि में प्रेरकों का महत्वपूर्ण योगदान होता है।

संसार के सभी जीवित प्राणियों में प्रेरक पाये जाते हैं चाहे वे मानव हो या पशु। मानव में पाये जाने वाले प्रेरक मूल रूप से पशुओं की भाँति ही होते हैं जो उनकी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु उत्पन्न होते हैं। जैसे- भूख-प्यास, काम, संवेग, सुरक्षा आदि। परन्तु मानव तथा पशुओं में इन आवश्यकताओं की पूर्ति या सन्तुष्टि के ढंग में भिन्नता पायी जाती है। पशुओं में इन आवश्यकताओं की पूर्ति प्रत्यक्ष ढंग से होती है, परन्तु मानव अपनी आवश्यकता पूर्ति समाज के मूल्यों, रीति-रिवाजों, परम्पराओं, कानूनों आदि को ध्यान में रखकर समाज द्वारा मान्य ढंगों का उपयोग करते हुए करता है।

अभिप्रेरणा व्यक्ति के व्यवहार को प्रेरित कर उसे कार्य की दिशात्मकता तथा अनुलम्बन का अध्ययन कराती है। समाज की सामाजिक तथा सांस्कृतिक पर्यावरण के अनुसार व्यक्ति की आवश्यकताएँ होती हैं। इनमें परिवर्तन के साथ-साथ व्यक्ति की आवश्यकताओं तथा प्रेरकों की प्राप्ति का रूप परिवर्तित होता है।

अभिप्रेरणा व्यक्ति की वह आन्तरिक स्थिति है जो कार्य करने के लिए शक्ति प्रदान करती है, प्रेरित करती है जिससे व्यक्ति अपने लक्ष्य प्राप्ति में सतत लगा रहता है। प्रेरणाएँ व्यक्ति के लक्ष्य प्राप्ति के साधनों तथा दिशाओं को निर्धारित करती हैं।

परिभाषाएं

प्रेरणा को विभिन्न विद्वानों ने निम्नलिखित परिभाषाओं के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

जे.पी. गिलफोर्ड ने अभिप्रेरणा को परिभाषित करते हुए कहा है कि “प्रेरक एक ऐसा आन्तरिक कारक अथवा व्यवस्था है जो कार्य प्रारम्भ करने अथवा जारी रखने को प्रेरित करता है।”

जेम्स डेव्हर के अनुसार “प्रेरणा एक भावात्मक क्रियात्मक कारक है जो कि चेतन अथवा अचेतन लक्ष्य की ओर होने वाले व्यक्ति के व्यवहार की दिशा को निश्चित करने का कार्य करता है।”

किम्बाल यंग ने प्रेरणा के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट किया है कि “सम्प्रेरणा एक व्यक्ति की आन्तरिक स्थिति होती है जो उसे क्रियाएं करने के लिए प्रेरित करती हैं।”

एटकिन्सन के अनुसार “अभिप्रेरणा एक या अधिक प्रभावों को उत्पन्न करने के लिए व्यक्ति में कार्य करने की प्रवृत्ति को जागृत करती है।”

शेफर, गिलमर तथा शोयन के अनुसार “प्रेरक क्रिया करवाने की एक ऐसी प्रवृत्ति है जिसका सूत्रपात चालक से होता है तथा जो अनुकूलन द्वारा प्राप्त की जाती है।”

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि प्रेरणाएँ व्यक्ति के व्यवहारों को प्रेरित कर उसे कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करती हैं।

प्रेरकों की विशेषताएं

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर प्रेरणा की निम्नलिखित विशेषताएं स्पष्ट होती हैं:

1. यह एक आन्तरिक कारक एवं शक्ति है।
2. अभिप्रेरकों के फलस्वरूप मनुष्य क्रिया को आरम्भ करता है। जैसे भूख लगने पर भोजन करना।
3. अभिप्रेरकों द्वारा मनुष्य की क्रियाओं को गतिशीलता प्राप्त होती है।
4. अभिप्रेरक व्यवहार को जन्म देते हैं।

5. जब तक मनुष्य अपने उद्देश्य को प्राप्त करने में सफल नहीं हो जाता, तब तक अभिप्रेरक उसे एक निश्चित दिशा की ओर प्रेरित करते रहते हैं।
6. प्रेरणायुक्त व्यवहार में लक्ष्य प्राप्ति के पश्चात् व्यक्ति सन्तोष का अनुभव करता है।
7. समाज के मूल्यों के अनुरूप प्रेरक व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन लाते हैं।
8. अभिप्रेरकों की सन्तुष्टि के लिए व्यक्ति विभिन्न प्रविधियों का विकास करता है तथा कौशल प्राप्त करता है।
9. अभिप्रेरित व्यवहार अर्जित तथा जागृत होता है। अभिप्रेरित व्यवहार में व्यक्ति सामान्य अवस्था की अपेक्षा अधिक ऊर्जावान और जागरूक प्रतीत होता है।

आवश्यकता

अभिप्रेरणा के वर्णन में आवश्यकता शब्द का अत्यधिक उपयोग होता है। प्रत्येक प्राणी की कुछ आधारभूत आवश्यकताएँ होती हैं। इन आवश्यकताओं की सन्तुष्टि तथा असन्तुष्टि व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करती है। व्यक्ति को उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति या सन्तुष्टि न होने पर तथा प्राणी को इससे वंचित रखने पर उसके व्यवहार की क्रियाशीलता बढ़ जाती है। ई.जी.बोरिंग के अनुसार आवश्यकता शरीर की वह जरूरत है जिसके अभाव में शारीरिक असन्तुलन या तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस तनाव में ऐसा व्यवहार उत्पन्न करने की प्रवृत्ति होती है जिससे आवश्यकता के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाला असन्तुलन समाप्त हो जाता है।

7.3सम्प्रेरणा के प्रकार

(i) जन्मजात या जैविकीय प्रेरक

मनुष्य को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए आवश्यकताओं की सन्तुष्टि आवश्यक होती है। जैविकीय आवश्यकताएँ स्वाभाविक तथा जन्मजात आवश्यकताएँ होती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति किये बिना मनुष्य जीवित नहीं रह सकता है। जैविकीय प्रेरक (जैसे भूख लगना, प्यास लगना, आराम आदि) मानव तथा पशु दोनों में समान रूप से पाये जाते हैं। परन्तु इनकी सन्तुष्टि के तरीके दोनों में भिन्न-भिन्न होते हैं। जैविकीय प्रेरकों में निम्नलिखित प्रमुख हैं:

(1) भूख

भूख व्यक्ति की मूल प्रेरणा है जिसके कारण वह सक्रिय होकर अनेक क्रियाएं करता है। मानव शरीर की जैविकीय रचना इस प्रकार की होती है कि उसे जीवित रखने के लिए आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए वह बाध्य होता है। भूख भी मानव की एक ऐसी ही आवश्यकता है जिसकी पूर्ति के बिना शारीरिक सन्तुलन बिगड़ने लगता है, कार्य-क्षमता में कमी हो जाती है, बौद्धिक क्रियाओं में हास होता है, क्रोध, बेचैनी आदि बढ़ जाती है तथा व्यक्ति का किसी कार्य में मन नहीं लगता है।

(2) प्यास

भोजन की भाँति प्यास भी एक विशिष्ट शारीरिक आवश्यकता है। प्यास लगने पर गला, जीभ, मुँह आदि सूखने लगता है तथा लार ग्रन्थियों की क्रिया धीमी पड़ जाती है। व्यक्ति जब तक पानी पीकर इसकी तृप्ति नहीं कर लेता, उसकी बेचैनी समाप्त नहीं होती है। अतः मानव तथा पशु दोनों के लिए इसकी पूर्ति करना आवश्यक है।

(3) काम

मनोविश्लेषणवादी काम भावना को मानव तथा पशुओं के लिए महत्वपूर्ण जैविकीय प्रेरक मानते हैं। उनके अनुसार काम ही व्यवहार का स्रोत है। काम के प्रति दृष्टिकोण व्यवहार में परिवर्तन ला देता है। काम भावना की उचित सन्तुष्टि न होने पर व्यक्ति में हीन भावना तथा तनाव की उत्पत्ति होती है, जिससे व्यक्ति में कभी-कभी अपराध की प्रवृत्ति जागृत हो जाती है।

(4) नींद

एक स्वस्थ शारीरिक तथा मानसिक अवस्था के लिए व्यक्ति में नींद की पूर्ति करना अत्यन्त आवश्यक है। नींद व्यक्ति को शारीरिक तथा मानसिक आराम प्रदान करता है। नींद पूरी न होने पर अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे विभ्रम, अकुलाहट, बैचेनी, चिड़चिड़ापन, अकेन्द्रित मन, विषाद, घबराहट होने लगती है। उचित-अनुचित का ज्ञान नहीं रहता। प्रत्यक्षीकरण तथा ज्ञानात्मक विघटन होने लगता है।

(5) सुरक्षा

व्यक्ति सुरक्षा से ही अपना अस्तित्व बनाए रख सकता है। बाल्यावस्था से ही व्यक्ति को कष्ट उत्पन्न करने वाली स्थितियों से बचना सिखाया जाता है। कष्ट या असुरक्षा की भावना में (जैसे बीमारी, शरीर के किसी अंग में दर्द, डर आदि) व्यक्ति में चिन्ता, असंतोष, भय तथा घबराहट आदि स्पष्ट दिखाई देते हैं तथा उसका व्यवहार असामान्य हो जाता है।

अर्जित अथवा सामाजिक प्रेरक

जन्मजात या जैविकीय प्रेरकों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रेरकों को व्यक्ति अपने सामाजिक तथा सांस्कृतिक वातावरण से प्राप्त करता है। इन्हें अर्जित अथवा सामाजिक प्रेरक कहते हैं। इन प्रेरकों को व्यक्ति स्वयं समाज में रहकर अर्जित करता है। इन्हें दो भागों में विभाजित किया गया है:-

(अ) सामान्य सामाजिक प्रेरक

(ब) व्यक्तिगत सामाजिक प्रेरक

(अ) सामान्य सामाजिक प्रेरक

ये प्रेरक व्यक्ति को सामाजिक व्यवहार करने के लिए प्रेरित करते हैं। ये सभी व्यक्तियों में प्रायः समान रूप से होते हैं। इसके अन्तर्गत मुख्य प्रेरक निम्नलिखित हैं:

(1) सामूहिकता

ये एक समाज जनित प्रेरक हैं। सामूहिकता की प्रवृत्ति प्रत्येक प्राणी में पायी जाती है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति अपने अस्तित्व की रक्षा तथा अपनी जैविकीय और सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समूह में रहता है। समाज का निर्माण ही परस्पर सामाजिक सम्बन्धों द्वारा होता है। व्यक्ति अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए दूसरों पर निर्भर रहता है। इस प्रकार इसी उद्देश्य से व्यक्ति अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए समूह में रहते हैं।

(2) आत्म स्थापन

आत्म स्थापन व्यक्ति की मूल प्रवृत्ति है। यह प्रेरणा समाज के रीति-रिवाज तथा व्यवहार द्वारा प्रभावित होती है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति में यह प्रवृत्ति पायी जाती है कि वह अपने को दूसरों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ प्रदर्शित करे,

दूसरों से अधिक शक्तिशाली हो तथा शत्रुओं को पराजित कर सके। इसलिए व्यक्ति अपने को अधिकाधिक प्रभावशाली शक्तिवान और श्रेष्ठ बनाने के लिए दूसरे से अधिक परिश्रम करता है। इससे आत्म-स्थापन प्रेरक द्वारा व्यक्ति की क्षमताओं का विकास होता है तथा योग्यता बढ़ती है। वह अधिक से अधिक रचनात्मक कार्यों को करने के लिए प्रेरित होता है।

(3) संग्रहता

बिगेल होल ने संग्रहता के परिप्रेक्ष्य में कहा है कि शारीरिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए संग्रहता की प्रेरणा विकसित होती है। व्यक्ति भोजन, वस्त्र आदि का संग्रहण अपनी आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए करता है। परन्तु संग्रहता की प्रेरणा केवल शारीरिक आवश्यकताओं के साथ सम्बन्धित नहीं है। अनेक समूहों में आत्म-स्थापन के लिए भी सम्पत्ति का संग्रह किया जाता है। इस प्रेरणा के द्वारा व्यक्ति वस्तुओं को अर्जित कर रचनात्मक कार्यों में रुचि लेता है।

(4) अतिक्रमणता

अतिक्रमणता प्रेरणा व्यक्ति अपने सामाजिक सांस्कृतिक पर्यावरण से अर्जित करता है। यह व्यक्ति में संघर्ष की प्रवृत्ति को विकसित करती है। जब व्यक्ति की आवश्यकता पूर्ति में बाधा उत्पन्न होती है तो वह बाधा उत्पन्न करने वाले तत्वों के साथ संघर्ष कर अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयास करता है।

(ब) वैयक्तिक सामाजिक प्रेरक

वैयक्तिक सामाजिक प्रेरकों को व्यक्ति स्वयं अपने व्यक्तिगत अनुभवों द्वारा अर्जित करता है। व्यक्तियों के मध्य वैयक्तिक भिन्नताओं के कारण इन प्रेरकों में भी व्यक्तियों के मध्य भिन्नता होती है। इसके अन्तर्गत प्रमुख प्रेरक निम्नलिखित हैं:

(1) आदत

किसी क्रिया व्यवहार को बार-बार दोहराने से आदत का विकास होता है। एक बार आदत का विकास हो जाने पर जब उसे किसी प्रकार का उत्तेजक प्राप्त होता है तो वह स्वयं व्यक्ति को क्रियाशील करती है और वह स्वतः चालित रूप से कार्य करना आरम्भ कर देता है। व्यक्ति के व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर आदतें अपना रूप ग्रहण कर लेती हैं। इन आदतों की पूर्ति उचित ढंग से न होने पर व्यक्ति के अन्दर तनाव का अनुभव होने लगता है। इस प्रकार आदतें व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित तथा प्रभावित करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। हमारे रीति रिवाज, परम्पराएँ, लोकाचार तथा धार्मिक नियम आदि सामाजिक आदतें हैं। समाजीकरण के द्वारा इनका पालन करने की आदतों का विकास किया जाता है।

(2) जीवन लक्ष्य

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का कोई न कोई निश्चित लक्ष्य होता है जो व्यक्ति की इच्छाओं, प्रेरणाओं तथा विचारों पर आधारित होता है। लक्ष्य निर्धारण के पश्चात् व्यक्ति उसकी प्राप्ति के लिए उसी दिशा में प्रयास करता है। व्यक्ति के लक्ष्यों में भिन्नता के कारण उनका व्यवहार भी भिन्न-भिन्न होता है। ये लक्ष्य समाज के अनुकूल होते हैं व्यक्ति जिस प्रकार के सामाजिक पर्यावरण में रहता है, उसका लक्ष्य भी उसी से प्रभावित होता है। वर्तमान प्रतिस्पर्धात्मक समाज में शिक्षा का अत्यधिक महत्व है। अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए शिक्षा अति आवश्यक है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति विभिन्न क्षेत्रों में शिक्षा प्राप्त कर अपने को धनी बनाने का लक्ष्य निर्धारित करते हैं, मात्र उसका स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है, जैसे कोई आई.ए.एस., डाक्टर, इंजीनियर, शिक्षक, वकालत आदि को अपना

लक्ष्य निर्धारित कर अपनी सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति को ऊँचा उठाने का प्रयास करता है। व्यक्ति के जीवन लक्ष्य समाज में उसके सामाजिक स्थिति तथा व्यवहार को प्रभावित करते हैं।

(3) आकांक्षा का स्तर

समाज में प्रत्येक व्यक्ति की आकांक्षाओं के स्तर में भिन्नता पायी जाती है। व्यक्ति के लक्ष्यों के अनुसार कुछ सदस्यों की आकांक्षाएँ बहुत उच्च होती हैं तथा कुछ की सीमित होती हैं। इनकी प्राप्ति व्यक्ति के प्रयत्नों पर निर्भर करती हैं। आकांक्षाओं का विकास भी सामाजिक लक्ष्यों के अनुसार व्यक्ति के सामाजिक पर्यावरण के अनुसार होता है।

(4) अभिरुचि

समाज के विभिन्न सामाजिक तथा सांस्कृतिक पर्यावरण से प्रभावित व्यक्तियों की रुचियों में भी भिन्नता पायी जाती है। जिन वस्तुओं को प्राप्त करने में व्यक्ति की अभिरुचि होती है व्यक्ति उसके लिए अधिक प्रयास करते हैं। अभिरुचियाँ व्यक्ति के व्यवहारों, कार्यों तथा उसके संकेन्द्रित मन को प्रभावित करती हैं। अपनी अभिरुचि ये इच्छा की वस्तु जब तक व्यक्ति को प्राप्त नहीं होती, वह उसके लिए प्रयास करता रहता है। इच्छित वस्तु की प्राप्ति न होने पर व्यक्ति में तनाव बना रहता है। आयु तथा सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार व्यक्ति की रुचियों में परिवर्तन होता रहता है। रुचियों में परिवर्तन के अनुसार व्यक्ति के व्यवहारों में भी परिवर्तन होता है।

(5) मनोवृत्ति

व्यक्ति का सामाजिक व्यवहार उसकी अभिवृत्ति या मनोवृत्तियों को प्रतिबिम्बित करता है। मनोवृत्ति किसी भी व्यक्ति या वस्तु अथवा उत्तेजना के प्रति हो सकती है। यह वह स्थायी मानसिक तत्परता या प्रवृत्ति है जिसका संगठन या निर्माण अनुभवों के आधार पर होता है और इसके व्यवहार पर गत्यात्मक और निर्देशात्मक प्रभाव पड़ता है। मनोवृत्तियाँ जन्मजात नहीं होती हैं। वस्तु, व्यक्ति, घटना या समूह आदि के सम्बन्ध में मनोवृत्तियों को व्यक्ति सीखता है। मनोवृत्ति के आधार पर ही व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों, समूहों या किसी घटना आदि के प्रति अपनी सोच या व्यवहार को व्यक्त करता है। यह धनात्मक तथा ऋणात्मक किसी भी प्रकार की हो सकती है।

(6) अचेतन प्रेरणाएं

मानव की अनेक इच्छाएँ जिनकी पूर्ति नहीं हो पाती हैं वे अचेतन मन में दब जाती हैं और वहीं सन्तुष्ट होने का प्रयास करती हैं। फ्रायड के अनुसार हमारे दैनिक व्यवहार की अनेक बातों का संचालन अचेतन मन से होता है। असामान्य व्यवहार तथा विभिन्न प्रकार की मानसिक व्याधियाँ हमारे अचेतन मन पर आधारित होती हैं। यह व्यक्ति के व्यवहार को निरन्तर प्रभावित करती है। जब अचेतन मन अधिक शक्तिशाली हो जाता है तो मनोविकार भी उत्पन्न हो जाता है।

(7) संवेग

संवेग अचेतन प्रेरणा की भाँति ही मानव के व्यवहार को प्रभावित करते हैं। इसका महत्व व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित करने तथा प्रेरणा देने में महत्वपूर्ण होता है। संवेगों से व्यक्ति अदिक क्रियाशील हो जाता है। संवेग की अवस्था में व्यक्ति का व्यवहार सामान्य अवस्था से भिन्न होता है।

7.5 सम्प्रेरणा के सिद्धान्त

अभिप्रेरणा का संज्ञानात्मक सिद्धान्त :-

समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्रियाओं और निर्णयों का चयन व्यक्तिगत ज्ञान और संज्ञान के आधार पर करता है। अभिप्रेरणा के संज्ञानात्मक सिद्धान्त का विकास टालमैन और लैविन द्वारा किये गये अध्ययनों के आधार पर हुआ है। टालमैन और लैविन ने व्यवहार के घटित होने का प्रमुख कारण संज्ञान को बताया है। संज्ञान के बिना व्यवहार की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है। इनके अनुसार व्यवहार का स्रोत शक्ति है। टालमैन के अनुसार शक्ति का स्रोत आवश्यकताओं और अन्तर्नोदों का उद्दीपन है। अर्थात् जब कोई व्यक्ति कोई कार्य करता है तो इस कार्य को करने के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है। यह शक्ति उस व्यक्ति की आवश्यकताओं और उद्दीपन के उत्प्रेरकों से प्रेरित होती है। इस सम्बन्ध में लेविन का विचार टालमैन से भिन्न है। लेविन के अनुसार शक्ति का स्रोत आवश्यकताओं और अन्तर्नोदों का उद्दीपन नहीं है बल्कि व्यक्ति में उपस्थित तनाव है। लेविन के अनुसार जब कोई भी व्यक्ति लक्ष्य निर्देशित करता है तो उस व्यक्ति के शक्ति के स्रोत तनाव में कमी हो जाती है।

अभिप्रेरणा के संज्ञानात्मक सिद्धान्त को निम्न पदों के आधार पर संक्षिप्त रूप में स्पष्ट किया जा सकता है।

1. इस सिद्धान्त के लिए सर्वप्रथम आवश्यक तत्व उद्दीपकों की प्राप्ति है। व्यक्ति यह उद्दीपक बाह्य वातावरण या आन्तरिक अवस्थाओं से प्राप्त कर सकता है।
2. इसका दूसरा तत्व शक्ति स्रोत है। जो उपर्युक्त वर्णन में स्पष्ट है।
3. तीसरा तत्व लक्ष्य से सम्बन्धित है। व्यक्ति सामान्यतया ऐसे लक्ष्यों का चयन करता है जिससे उसे सन्तोष प्राप्त होने की आशा हो।
4. चतुर्थ तत्व व्यवहार तथा क्रिया से सम्बन्धित है। अभिप्रेरणात्मक व्यवहारों को करते समय व्यक्ति अपने व्यवहार तथा क्रिया को ऐसा रूप देता है जिससे कि उसे सरलता से लक्ष्य की प्राप्ति हो सके।
5. लक्ष्य प्राप्ति के पश्चात् व्यक्ति को भावनात्मक रूप से सन्तुष्टि की प्राप्ति होती है।

मैसलो का सिद्धान्त :-

मैसलो के सिद्धान्त को आवश्यकताओं के अनुक्रमांक विकास का सिद्धान्त कहते हैं। मैसलो के अनुसार व्यक्ति में आवश्यकताओं का विकास एक निश्चित क्रम में होता है। यह क्रम निम्नलिखित है।

- Self Actualization
- Self –Esteem
- Love
- Safety
- Physiological Needs (Hunger , Sex , Thirst etc.)

मैसलो के अनुसार मानव आवश्यकताएँ मूलभूत जैविक आवश्यकताओं से आत्म वास्तवीकरण के पदानुक्रम में होती हैं। निम्न स्तरीय आवश्यकताएँ जैसे-जैसे सन्तुष्ट होती जाती हैं वैसे-वैसे ही क्रमशः उच्च स्तरीय आवश्यकताओं का विकास होता जाता है। उच्च स्तरीय आवश्यकता के विकसित होने के बाद निम्न स्तरीय आवश्यकता का महत्व कम हो जाता है तथा दूसरे व्यक्ति में पद सोपान संगठन उच्च स्तरीय आवश्यकताओं के विकसित होने के बाद विकसित होता है।

7.6 सारांश

इस इकाई में प्रेरणा की परिभाषा एवं आवश्यकता के बारे में बताया गया है। वास्तव में प्रेरकों की आवश्यकता व्यक्ति के जीवन में कई बार होती है। प्रेरक वे अन्तर्निहित कारक हैं जो व्यक्ति के जीवन की दशा-दिशा तय करते हैं।

7.7 अभ्यास प्रश्न

1. प्रेरणा को परिभाषित कीजिए तथा प्रेरकों की आवश्यकता को परिलक्षित कीजिए।
2. प्रेरकों की विशेषताओं को उल्लेखित कीजिए।

7.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. "A motive may be defined as a tendency to activity initiated by drive and concluded by an adjustment." - Sheriff, M & Sheriff, K. W., An outline of Psychology.
2. "Motive is an internal state of individual which induces him to activity." - Kimball Young, Personality & problems of adjustment.
3. William Mc Dougall, An Introduction to Social Psychology.
4. "This means experiencing any emotion which is experienced by a fellow being."- V.V. Akolkar : Social Psychology.
5. "Social perception is frequently taken to devote the whole range of the individual's understanding of his social situation-"F.H. Allport, Theory of Perception to the concept of structure.

मनोवृत्ति एवं पूर्वाग्रह

इकाई की रूपरेखा

- 8.0 उद्देश्य
- 8.1 प्रस्तावना
- 8.2 मनोवृत्ति (Attitude)
- 8.3 पूर्वाग्रह (Prejudice)
- 8.4 सारांश
- 8.5 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 8.6 संदर्भ ग्रंथ

8.0 इकाई के उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप

- मनोवृत्तियों को परिभाषित कर पाने में सक्षम होंगे
- मनोवृत्तियों के विभिन्न प्रकारों के विषय में बता सकेंगे
- मनोवृत्तियों के मापन की विभिन्न विधियों पर प्रकाश डाल सकेंगे
- पूर्वाग्रह का अर्थ तथा परिभाषाओं का विश्लेषण कर सकेंगे
- पूर्वाग्रह के कारक की विशेषताओं की व्याख्या कर सकेंगे
- पूर्वाग्रह के प्रकारों की व्याख्या कर सकेंगे
- पूर्वाग्रह को कम करने के उपाय की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में मानव व्यवहार की अवधारणा का विप्लेषण किया गया है। मानव व्यवहार अवयव के शारीरिक एवं मानसिक पक्षों की अभिव्यक्ति का परिणाम है। इसकी अभिव्यक्ति उद्देश्यों एवं विषयों के प्रति होती है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति के विश्वास, मनोवृत्ति, सहयोग, सहानुभूति, अनुकरण तथा अन्य सभी वैज्ञानिक एवं जैविकीय तत्व प्रदर्शित होते हैं। यह व्यवहार जैविकीय तथा सामाजिक सम्प्रेरकों द्वारा निर्दिष्ट होता है। अन्य अर्थ में मानव व्यवहार पर जैविकीय एवं सामाजिक कारक अपना प्रभाव डालते हैं तथा एक विशेष व्यवहार करने के लिए बाध्य करते हैं। मानव व्यवहार के मूलाधारों पर चर्चा इस इकाई के अन्त में की गई है।

7.2 मनोवृत्ति (Attitude)

मानव व्यवहार एक जटिल व्यवस्था है। मानव के आस-पास का वातावरण मनुष्य के व्यवहार को प्रभावित करता है। मानव व्यवहार व्यक्ति द्वारा समाज में रहते हुए प्राप्त किए जाते हैं वहीं दूसरी ओर व्यक्ति उसे अपने परिवेश से भी प्राप्त करता है।

8.2.1 मनोवृत्ति का अर्थ एवं परिभाषाएं (Meaning and Definitions of Attitude)

मनोवृत्ति व्यक्ति की एक आन्तरिक दशा है जो उसे कोई कार्य करने अथवा छोड़ने के लिए प्रेरित करती है। इस प्रवृत्ति के कारण ही व्यक्ति उन वस्तुओं की ओर अधिक अग्रसर होता है जिनको वह अधिक पसंद करता है तथा नापसंद की वस्तुओं से दूर भागता है। इस प्रकार मनोवृत्ति एक मानसिक तत्परता की अवस्था है जो पूर्व अनुभवों द्वारा संगठित होती है जो व्यक्ति के प्रत्यन्तर का निर्दिष्ट गतिगामी प्रयत्न उन सब वस्तुओं तथा स्थितियों के प्रति करती है जिनसे वह संबन्धित है। मनोवृत्ति किसी घटना, व्यक्ति आदर्श इत्यादि से संबन्धित पक्ष तथा विपक्ष दोनों में होती है। इस कारण मनोवृत्तियों में रुचि-अरुचि, अच्छा-बुरा, अनुकूल-प्रतिकूल आदि सभी प्रकार के भावों का समावेश होता है। मनोवृत्तियों द्वारा ही व्यवहार की दिशा का निर्धारण होता है। मनोवृत्तियाँ कई प्रकार की होती हैं जैसे-सामाजिक, विशिष्ट व्यक्तियों के प्रति, विशिष्ट समूहों के प्रति। सामाजिक मनोवृत्ति में प्रतिस्पर्धा, सहयोग, सामाजिक प्रतिष्ठा आदि सम्मिलित होती है। विशिष्ट व्यक्तियों के प्रति व्यवहार सामान्य व्यक्तियों से भिन्न होता है। जैसे माता-पिता तथा भाई-बहन के साथ हमारा व्यवहार भिन्न होता है।

अभिरूचियों या अभिवृत्तियों का सम्बन्ध विभिन्न परिस्थितियों वस्तुओं, व्यक्तियों एवं समूहों के प्रति व्यक्ति के विचारों, अनुभूति एवं दृष्टिकोण से है। ये किसी वस्तु या विषय के प्रति व्यक्ति की मानसिक प्रतिक्रिया या प्रतिबिम्ब हैं। उदाहरण के लिए, यदि हम किसी व्यक्ति से यह पूछते हैं कि अर्जन्तजातीय विवाह के प्रति आपके क्या विचार हैं? पूंजीवाद के प्रति आपका क्या दृष्टिकोण है? अथवा कष्ट के प्रति आपकी क्या अनुभूति है? तो जो उत्तर हमें प्राप्त होंगे, वे ही उन विषयों के प्रति व्यक्ति की मानसिक प्रतिछाया होगी, इसे ही हम मनोवृत्ति कहते हैं। दूसरे शब्दों में, किसी भी परिस्थिति, व्यक्ति, घटना, विषय एवं वस्तु के प्रति व्यक्ति की जो विशिष्ट मानसिक दशा होती है, उसे ही मनोवृत्ति कहते हैं।

अभिरूचि मानव के विविध अनुभवों का फल होती है। यह व्यक्ति के लिए प्रेरणात्मक होती है। इससे प्रेरित होकर व्यक्ति अनेक कार्य करता है। मनोवृत्ति अनुभवों द्वारा संगठित होती है। मानव व्यवहार को समझने में मनोवृत्ति का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। मनोवृत्तियों को ज्ञात करना, उनका वर्गीकरण करना एवं उन्हें मापना भी सम्भव है। यही कारण है कि समाज मनोविज्ञान में मनोवृत्तियों का अध्ययन किया जाता है। मनोवृत्तियों के अध्ययन के आधार पर सामाजिक समस्याओं को भी समझा जा सकता है। हम मनोवृत्तियों की जानकारी के आधार पर लोगों के व्यवहार को सरलता से समझ सकते हैं, उनके बारे में भविष्यवाणी कर सकते हैं तथा उन्हें नियन्त्रित करने का प्रयास कर सकते हैं।

अभिवृत्तियों को निम्नलिखित विद्वानों ने भी परिभाषित करने का प्रयास किया है:

आलपोर्ट के अनुसार, “मनोवृत्ति मानसिक तथा स्नायुविक तत्परता की एक स्थिति है, जो अनुभव के द्वारा निर्धारित होती है और जो उन समस्त वस्तुओं तथा परिस्थितियों के प्रति हमारी प्रतिक्रियाओं को प्रेरित एवं निर्देशित करती है, जिनसे कि वह मनोवृत्ति संबन्धित है।”

क्रेच तथा क्रचफील्ड के अनुसार, 'व्यक्ति को अपनी दुनिया के किसी पक्ष से संबन्धित प्रेरणात्मक, संवेगात्मक, प्रत्यक्षात्मक और ज्ञानात्मक प्रक्रियाओं के सुस्थिर संगठन को मनोवृत्ति कहकर परिभाषित किया जा सकता है।'

वी.वी. अकोलकर, 'एक वस्तु या व्यक्ति के विषय में सोचने व अनुभव करने तथा उसके प्रति एक विशेष ढंग से कार्य करने की तत्परता की स्थिति को मनोवृत्ति कहते हैं।'

न्यूकाम्ब के अनुसार, 'अभिवृत्ति किसी व्यक्ति, वस्तु, घटना, विचार अथवा मूल्य के प्रति एक विशेष ढंग से अनुभव करने, क्रिया करने तथा व्यवहार करने की प्रवृत्ति है।'

मनोविज्ञान परिभाषा कोश के अनुसार, 'अभिवृत्ति सामाजिक पर्यावरण के सम्पर्क में आने पर मन में किसी वस्तु, व्यक्ति, आदि के प्रति अनुकूल या प्रतिक्रिया करने की एक सुनिश्चित स्थायी प्रकृति है।'

थर्सटन के अनुसार, 'किसी मनोवैज्ञानिक वस्तु के पक्ष या विपक्ष में सकारात्मक या नकारात्मक भाव की तीव्रता को मनोवृत्ति कहते हैं।'

इन उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि मनोवृत्ति किसी विषय, व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति, आदि के प्रति व्यक्ति की जागरूक मानसिक प्रतिक्रिया है जो उसे एक विशेष प्रकार से सोचने एवं कार्य करने को प्रेरित करती है।

अभिवृत्तियों की विशेषताएं (Characteristics of Attitude)

अभिवृत्तियों (मनोवृत्तियों) की विशेषताओं के आधार पर हम मनोवृत्ति की प्रकृति को और अधिक स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं।

शैरिफ ने निम्नलिखित विशेषताओं का वर्णन किया है:

(1) किसी भी वस्तु या व्यक्ति के प्रति मनोवृत्ति को समाज द्वारा सीखा जाता है। हम अछूत जातियों के प्रति भेद-भाव रखने की मनोवृत्ति को सामाजिक सम्पर्क द्वारा सीखते हैं, यह जन्मजात नहीं होती है। कोई भी व्यक्ति साम्यवाद विरोधी अथवा पूंजीवाद के पक्ष में मनोवृत्ति को लेकर पैदा नहीं होता है। उसकी मनोवृत्तियां तो समाज के सम्पर्क से बनती हैं।

(2) मनोवृत्तियों को सामाजिक सम्पर्क के द्वारा सीखा जाता है। अतः एक बार जिस मनोवृत्ति को अपना लिया जाता है, वह बहुत कुछ स्थायी रूप से व्यक्ति में मौजूद रहती है, यद्यपि उसमें परिवर्तन भी किया जा सकता है, किन्तु यह एक कठिन एवं लम्बी प्रक्रिया है।

(3) किसी भी मनोवृत्ति का निर्माण शून्य में नहीं होता है। इसके लिए दो बातों का होना आवश्यक है-एक, व्यक्ति जिसके मस्तिष्क में मनोवृत्ति का निर्माण होता है और दूसरी, कोई व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति, विषय एवं घटना का होना जिसके प्रति व्यक्ति मनोवृत्ति का निर्माण करता है। इस प्रकार मनोवृत्ति का सम्बन्ध सदैव ही किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति व्यक्ति के विचारों, व्यवहारों या क्रियाओं से होता है।

(4) मनोवृत्ति का सम्बन्ध किसी एक समय में एक ही वस्तु, व्यक्ति और घटना से भी हो सकता है और कई वस्तुओं, व्यक्तियों एवं घटनाओं से भी। अलग-अलग वस्तुओं एवं विषयों के प्रति एक ही व्यक्ति की मनोवृत्ति भिन्न-भिन्न हो सकती है तथा विभिन्न समूहों की मनोवृत्तियों में भी भिन्नता पायी जाती है।

(5) मनोवृत्ति व्यक्ति को किसी वस्तु, घटना, परिस्थिति या विषय के प्रति एक विशेष प्रकार से क्रिया करने की प्रेरणा देती है।

(6) मनोवृत्ति एक व्यक्ति की भी हो सकती है और सारे समूह तथा समाज की भी। उदाहरणार्थ, विधवा-पुनर्विवाह के पक्ष एवं विपक्ष में व्यक्ति एवं समाज दोनों मनोवृत्ति देखी जा सकती हैं। व्यक्ति एवं समाज की मनोवृत्ति में समानता एवं विभिन्नता हो सकती है।

शेरिफ द्वारा बतायी गयी विशेषताओं के अतिरिक्त मनोवृत्ति की विशेषताओं का कुछ अन्य विद्वानों ने भी उल्लेख किया है जो इस प्रकार हैं:

(7) व्यक्ति या समूह किसी वस्तु, व्यक्ति, विषय, घटना, परिस्थिति, आदि के प्रति ही मनोवृत्ति का निर्माण करते हैं। इसके अभाव में मनोवृत्ति नहीं बन सकती है। जब तक व्यक्ति या समूह के सामने कोई व्यक्ति या वस्तु न हो तब तक उसके प्रति मनोवृत्ति कैसे बन सकती है।

(8) मनोवृत्ति के साथ व्यक्ति के संवेग भी जुड़े होते हैं। जिस अध्यापक के प्रति हमारी मनोवृत्ति सकारात्मक होती है उसके प्रति हम प्रेम, श्रद्धा, भक्ति एवं सहयोग के भाव रखते हैं, दूसरी ओर जिन लोगों के प्रति हमारी मनोवृत्ति प्रतिकूल होती है, उनके प्रति हम घृणा, क्रोध एवं उत्तेजना का प्रदर्शन करते हैं।

(9) अनेक बार तो मनोवृत्तियों का निर्माण जान-बूझकर एवं चेतन रूप में किया जाता है, किन्तु कई बार वे हमारे अचेतन मन की उपज होती हैं और हम स्वयं भी नहीं जानते हैं कि कौन-सी मनोवृत्ति किस कारण से पैदा हुई। मनोवृत्तियों का विकास एक लम्बे समय के अनुभवों एवं घटनाओं के जमाव के कारण होता है।

(10) मनोवृत्ति का सम्बन्ध व्यक्ति की किसी-न-किसी आवश्यकताओं एवं समस्याओं से होता है। जाति-प्रथा एवं संयुक्त परिवार को बनाये रखने, दहेज, बाल-विवाह, विधवा पुनर्विवाह, राजनीतिक दल, विदेशी व्यापार, सरकार द्वारा ऋण देने, मद्यनिषेध, साम्प्रदायिकता, जातिवाद, पर्दा-प्रथा, आदि अनेक विषयों से संबन्धित यदि हम कोई मनोवृत्ति रखते हैं तो इसका कारण है कि हम किसी-न-किसी रूप में इन बातों से जुड़े हुए हैं। ये व्यक्ति की किसी-न-किसी आवश्यकता की पूर्ति करती हैं।

(11) हम उसी व्यक्ति, विषय या परिस्थिति के प्रति मनोवृत्ति प्रकट करते हैं जिनसे हम परिचित हैं, अनजान व्यक्ति या विषय के प्रति हम मनोवृत्ति नहीं बना सकते।

उपर्युक्त विशेषताओं से स्पष्ट है कि किसी वस्तु, विषय, व्यक्ति, व्यक्ति, परिस्थिति एवं घटना, आदि के प्रति व्यक्ति अपने मन में जो विचार रखता है, जो व्यवहार एवं दृष्टिकोण प्रकट करता है, उसे हम मनोवृत्ति कहते हैं। यह मनोवृत्ति जन्मजात नहीं होती वरन् समाज द्वारा सीखी जाती है। मनोवृत्तियां काफी हद तक स्थायी होती हैं। यद्यपि ये परिवर्तित भी होती हैं। मनोवृत्तियों का सम्बन्ध व्यक्ति की किसी-न-किसी आवश्यकता एवं समस्या से होता है। मनोवृत्ति के साथ व्यक्ति के संवेग जुड़े होते हैं। यह व्यक्ति के व्यवहार को तय करती हैं, उसे नियन्त्रित करती हैं और दिशा निर्देश देती हैं।

8.2.2 मनोवृत्ति के प्रकार (Types of Attitude)

सामान्यतः अभिवृत्तियों को अनुकूलता व प्रतिकूलता के आधार पर वर्गीकृत किया जा सकता है-

1. धनात्मक अभिवृत्ति- यदि अभिवृत्ति की प्रकृति किसी व्यक्ति, वस्तु आदि के प्रति अनुकूल है तो उसे धनात्मक अभिवृत्ति कहते हैं।

2. ऋणात्मक अभिवृत्ति- धनात्मक अभिवृत्ति के उलट यदि अभिवृत्ति किसी वस्तु, विचार या व्यक्ति के प्रति प्रतिकूल है तो उसे ऋणात्मक या नकारात्मक अभिवृत्ति कहा जाएगा।

3. तटस्थ अभिवृत्ति- यदि किसी व्यक्ति, विचार व वस्तु आदि के प्रति अभिवृत्ति न तो अनुकूल हो या न प्रतिकूल हो तो उसे तटस्थ अभिवृत्ति कहते हैं।

आलपोर्ट ने भी तीन प्रकार की अभिवृत्तियों का वर्णन किया है-

1. सामाजिक अभिवृत्तियां- वे अभिवृत्तियों जो व्यक्तियों, वस्तुओं, परिस्थितियों से संबंधित होती है, उन्हें सामाजिक अभिवृत्तियां कहते हैं।

2. विशिष्ट व्यक्तियों के प्रति अभिवृत्ति- वे अभिवृत्तियां जो किसी खास, विशिष्ट व्यक्तियों के प्रति निर्मित की जाती है, उन्हें विशिष्ट अभिवृत्तियां कहते हैं।

3. विशिष्ट समूहों के प्रति अभिवृत्ति- वे अभिवृत्तियां जो किसी विशेष समूह, जाति, धर्म, संस्था के प्रति निर्मित की जाती है, उन्हें विशिष्ट समूह अभिवृत्तियां कहा जाता है।

8.2.3 मनोवृत्ति के मापन (Measuring Attitudes)

अभिवृत्तियों के मापन की निम्नलिखित विधियां प्रयोग में लायी जाती है-

1. क्रम निर्धारण विधि

2. मान विधि

3. परोक्ष विधि

1. क्रम निर्धारण विधि

इस विधि में निर्णायक विविध साधनों का उपयोग करके अभिवृत्ति की माप करते हैं। अतः निर्णायकों के निर्णयों का मध्यमान निकालकर अभिवृत्ति की माप कर ली जाती है। इस विधि के विभिन्न अंग निम्न है-

वस्तु के प्रति मूक व्यवहार- इसमें प्रयोज्य की अभिवृत्ति उसके व्यवहार द्वारा आंकी जाती है। अभिवृत्ति का मूल्यांकन व्यवहार के आधार पर होने से कठिनाई यह है कि प्रयोज्य कभी-कभी अभिवृत्ति के अनुकूल व्यवहार नहीं करता। अतः मूल्यांकन शुद्ध नहीं हो पाता।

शब्द द्वारा- व्यक्ति अपनी अभिवृत्ति के अनुसार ही बातचीत करता है, भाषण करता है, और लिखता है। इस प्रकार व्यक्ति की बातचीत, लेख और भाषण को जानकर उसकी अभिवृत्ति का पता चल पाता है। परन्तु ये तभी उपयोगी सिद्ध होते हैं जब ये कथन पूर्वग्रह और पक्षपात से रहित होती हैं। कभी-कभी कथनों के अभिवृत्ति के अनुकूल शुद्धता भी नहीं होती। ऐसी दशा में शाब्दिक कथन से अभिवृत्ति ठीक नहीं पायी जाती।

वैयक्तिक अभिलेख- डायरी, आत्म चरित्र, पत्र, स्वयं के अनुभव आदि व्यक्तिगत अभिलेख अभिवृत्ति के प्रकाशन के अच्छे साधन होते हैं। परन्तु इसमें प्रत्येक के व्यक्तिगत अभिलेख सुलभ नहीं होते।

गौण सहायक स्रोत- इन स्रोतों के अन्तर्गत चेहरे की भाव-भंगिमा, स्वर, ध्वनि आदि तथ्य आते हैं। विशेषज्ञों द्वारा उनको समझा जाता है। इन्हें समझकर अभिवृत्ति का अनुमान लगा लिया जाता है।

चिकित्सीय उपचार- मनोचिकित्सक इस विधि में व्यक्ति से बातचीत करता है और उसकी अभिवृत्ति का पता लगा लेता है। व्यक्ति अनजाने ही अपनी अभिवृत्ति की ओर संकेत कर जाता है। इससे मनोचिकित्सक व्यक्ति की अभिवृत्ति का अनुमान लगा लेता है।

प्रक्षेपी विधि- इस विधि से सामाजिक अभिवृत्तियां मापी जा सकती है। इस विधि में जो सुप्त अभिवृत्तियां अचेतन मन में होती हैं वे प्रकाश में आ जाती है।

2. मन विधि

यह विधि अभिवृत्ति मापन की महत्वपूर्ण विधि है। मान अभिवृत्ति मापन का वह साधन है जिसमें किसी वस्तु या सिद्धान्त के बारे में विशेषतायें लिखी होती हैं। ये विशेषतायें अस्त्यात्मक या निषेधात्मक दोनों प्रकार की होती हैं। इन्हीं के बीच व्यक्ति की अभिवृत्ति का स्थान निश्चित किया जाता है। प्रत्येक मान में कुछ ऐसे तत्व होते हैं जिनमें व्यक्ति की अनुकूल या प्रतिकूल अभिवृत्ति की ओर स्पष्ट संकेत मिलता है। मान-निर्धारण में वैधता का ध्यान रखा जाता है। ये तत्व निर्णायक के मतों के प्रभाव से एकदम मुक्त होने चाहिए। कुछ मान विधियां इस प्रकार हैं-

थ्रस्टन की मान विधि- इस विधि में किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना या सिद्धान्त के संबंध में बहुत से कथन एकत्रित किये जाते हैं। ये कथन पत्रिका, समाचार पत्रों, नेताओं के भाषण आदि के विचार-विनिमय से लिए जाते हैं। इन कथनों को एक मान पर फैला लिया जाता है। किसी कथन को मान के बिन्दु पर रखकर यह स्पष्ट कर लिया जाता है कि विशेषज्ञों द्वारा बताए औसत मान से यह कितना निकट या दूर है। इस मान में केवल वे ही कथन रखे जाते हैं जो स्पष्ट और केवल एक ही अर्थ रखने वाले होते हैं।

लिकर्ट मान विधि- इसमें वस्तु संबंधी कथनों का संग्रह किया जाता है। इसमें संग्रहित कथनों को पांच श्रेणियों में विभक्त कर लिया जाता है। जैसे- दृढ़ स्वीकृति, स्वीकृति, अनिश्चित, अस्वीकृति और दृढ़ अस्वीकृति।

इन श्रेणियों को क्रमशः 5, 4, 3, 2, 1 की संख्या दे दी जाती है। इन विभिन्न कथनों के आगे श्रेणी के अनुसार जो संख्या लिखी जाती है इनका योग ज्ञात करके उसका प्राप्तांक निश्चित कर लिया जाता है। जो प्राप्तांक अधिकतम होते हैं उनका संकेत स्वीकृति की ओर होता है और नीचे के प्राप्तांकों का संकेत अस्वीकृति की ओर होता है।

रेमर्स एवं लाइसास की मास्टर मान विधि- इसे वस्तु संबंधी बहुत सी अभिवृत्तियों का मापन कराने में प्रयोग करते हैं। इसमें तत्वों का सामान्यीकरण इतना सरल होता है कि कम पढ़े-लिखे लोग भी इसका उपयोग कर सकते हैं। परन्तु कुछ विद्वानों का कथन है कि इस विधि से अभिवृत्तियां उतनी कुशलता से नहीं मापी जाती जितनी कि अन्य विधियों से एक अभिवृत्ति माप ली जाती है। यह कमी इस विधि में अवश्य देखी जाती है।

गटमैन का मान विधि- इस विधि का प्रतिपादन गटमैन द्वारा किया गया। इसमें यह जानने का प्रयास किया जाता है कि जन समूह कीजानीहुयी किसी अभिवृत्ति के प्रति जन समूह के लोग निर्मित मान के कथनों के संबंध में सगत या असंगत कैसी अनुक्रिया दर्शाते हैं। संगत अनुक्रिया होने पर परिणाम विश्वसनीय मान लिया जाता है।

बोर्गार्डस की सामाजिक दूरी मान विधि- यह विधि सामाजिक घनिष्ठता पर आधारित है। जब व्यक्ति अजनबी होते हैं उनसे हमारी घनिष्ठता नहीं होती, परन्तु परिवार के सदस्यों के साथ घनिष्ठता अत्यधिक होती है। मित्रों के साथ हमारी घनिष्ठता और भी अधिक होती है। किसी वर्ग से हमारी घनिष्ठता अधिक होती है तो किसी वर्ग से कम होती

है। इस प्रकार विभिन्न वर्गों से, जातियों से अलग-अलग सामाजिक दूरियां होती हैं। अभिवृत्ति की माप की सात श्रेणियां आपने बतलाई हैं, जो निम्न हैं-

1. विवाह द्वारा संबंध स्थापना
2. अपने क्लब की सदस्य
3. निकटतम पड़ोसी जैसा व्यवहार
4. व्यवसाय में एक सहयोगी जैसा संबंध
5. अपने देश के नागरिक जैसे संबंध
6. अपने देश में भ्रमण करने वाले विदेशी के समान
7. उससे कोई भी संबंध स्थापित न करना।

इन्हीं सात स्तरों के आधार पर एक विदेशी जाति के प्रति व्यक्ति की अभिवृत्ति मापने का प्रयत्न किया जाता है। ऐसी ही किसी भी सामाजिक समस्या के संबंध में व्यक्ति को इन्हीं सात स्तरों पर अभिवृत्ति मापी जा सकती है। जैसे- साम्प्रदायिकता जैसी बातों के संबंध में इस विधि द्वारा व्यक्ति की अभिवृत्ति मापी जा सकती है। इस विधि को बहुत सी बातों के प्रति अभिवृत्तियों को जानने का प्रयास किया जाता है।

3. परोक्ष विधि

कुछ व्यक्ति जाने या अनजाने में अपनी वास्तविक अभिवृत्ति को छिपा लेते हैं। ऐसे व्यक्तियों की अभिवृत्तियों को शुद्ध रूप से नहीं मापा जा सकता। अतः हम परोक्ष विधि का सहारा लेते हैं। इसमें प्रयोज्य अध्ययनकर्ता के उद्देश्य को नहीं समझ पाता। इसलिए बिना संकोच जो पूछा जाता है उसका उत्तर वह दे देता है। इससे केवल यह पता चलता है कि व्यक्ति में अभिवृत्ति है या नहीं। इस विधि को अभी और अधिक विकसित करने की आवश्यकता है।

उपरोक्त सभी विधियां अभिवृत्ति मापन में प्रयुक्त होती हैं। परन्तु केवल एक विधि ही मापन के लिए पर्याप्त नहीं है। वास्तव में हमें कई विधियों का सहारा लेना चाहिए। जिस विधि को भी अध्ययनकर्ता अपनाएं उसमें वह पूर्ण रूप से प्रशिक्षित भी हो।

8.3 पूर्वाग्रह (Prejudice)

पूर्वाग्रह व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक संगठन का अभिन्न अंग है। यह व्यवहार की दिशा में व्यक्ति को अचेतन रूप से अग्रसारित करता है। यह जन्मजात नहीं होती बल्कि कि उम्र बढ़ने के साथ ही साथ सीखी जाती है। पूर्वाग्रह के अन्तर्गत एक व्यक्ति दूसरों के बारे में कुछ विशेष प्रकार के विचारों का विकास कर लेता है और उन्हीं के अनुसार आचरण करता है। पूर्वाग्रह एक विशेष प्रकार के कार्यों, वस्तुओं, व्यक्तियों तथा सिद्धान्तों के विरुद्ध अथवा पक्ष में एक अभिवृत्ति है। जिसके साथ प्रायः कुछ संवेग भी जुड़े रहते हैं। पूर्वाग्रह एक जल्दी में किया हुआ निर्णय यह उपयुक्त परीक्षा के बिना बनायी हुई राय है।

8.3.1 पूर्वाग्रह का अर्थ (Meaning of Prejudice)

पूर्वाग्रह दो शब्दों से मिलकर बना है: पूर्व+आग्रह। पूर्व का तात्पर्य पहले से निर्धारित तथा आग्रह का तात्पर्य विश्वास। पूर्वाग्रह का अभिप्राय किसी व्यक्ति के बारे में पूर्व निर्धारित निर्धारित विश्वास धारणा से है। व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों, स्थितियों, वस्तुओं, स्थानों आदि के विषय में बिना पूरी तरह से समझे हुए तथा बिना परीक्षा किये हुये एक धारणा बना लेता है और चाहे जितना उसे समझाया जाय कि उसका विश्वास गलत है वह विश्वास नहीं करता है। इस प्रकार पूर्वाग्रह के लिए न किसी प्रमाण की आवश्यकता होती है और न किसी परीक्षण की। पूर्वाग्रह के परिणामस्वरूप वह दूसरों के बारे में कुछ विशेष प्रकार के विचारों का विकास कर लेता है और उन्हीं के अनुसार आचरण करता है। पूर्वाग्रह का संबंध व्यक्ति के व्यवहार से होता है। व्यक्ति का व्यवहार बाह्य पर्यावरणीय स्थिति के प्रत्युत्तर में होता है। यह प्रत्युत्तर न केवल स्थिति विशेष से सम्बन्धित है बल्कि व्यवहारकर्ता की आन्तरिक स्थिति व मनोवैज्ञानिक संगठन भी काफी हद तक प्रभावित करता है। पूर्वाग्रह व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक संगठन का अभिन्न अंग है। यह व्यवहार की दिशा में व्यक्ति को अचेतन रूप से अग्रसारित करता है। पूर्वाग्रह तथा व्यवहार में घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसके कारण अनेक सहयोगी एवं असहयोगी भावनायें उत्पन्न होती हैं। असहयोगिक भावनाओं से हम घृणा करने लगते हैं, संघर्ष की ओर अग्रसर होते हैं तथा असहयोग व्यवहार प्रदर्शित करते हैं।

8.3.2 पूर्वाग्रह की प्रकृति एवं परिभाषाएं

पूर्वाग्रह सामान्य रूप से समाज में पायी जाने वाली वे धारणायें हैं जो सामाजिक एवं व्यक्तिगत मूल्यों एवं मान्यताओं से जुड़ी होती हैं। हालांकि इसकी प्रकृति सामाजिक होती है किन्तु प्रायः इसमें तार्किकता का अभाव पाया जाता है। पूर्वाग्रह की प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए मनोवैज्ञानिकों ने इसके शाब्दिक अर्थ एवं परिभाषाओं का उपयोग किया है। पूर्वाग्रह (Prejudice) शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के प्रजूडिसियम (Prejudicium) से हुई है जिसका अर्थ है न्याय की दृष्टि से पूर्व निर्णय। इससे अर्थ निकलता है निर्णय जो बिना किसी तार्किक आधार पर हो, पूर्वाग्रह होता है।

पूर्वाग्रह की निम्नलिखित परिभाषाओं इसको स्पष्ट करने में सहायक प्रतीत होती हैं।

आगर्वन: पूर्वाग्रह एक जल्दी में किया हुआ निर्णय या उपयुक्त परीक्षा के बिना बनाई हुई राय है।

यंग किम्बाल: एक पूर्वाग्रह रूढ़ियों, प्रक्रियाओं, किवदन्तियों क तथा पौराणिक कथाओं आदि के योग से बनता है। इसमें एक समूह लेबल या चिन्ह का प्रयोग किया जाता है। ताकि एक व्यक्ति या समूह की विशेषतायें उसके द्वारा प्रकट हो सकें।

जेम्स ड्रेवर: पूर्वाग्रह एक विशेष प्रकार के कार्या, वस्तुओं व्यक्तियों तथा सिद्धान्तों के विरुद्ध अथवा पक्ष में एक अभिवृत्ति है जिसके साथ प्रायः कुछ संवेग भी जुड़े रहते हैं।

शेरिफ तथा शेरिफ: समूह पूर्वाग्रह किसी अन्य समूह तथा उसके सदस्यों के प्रति एक समूह विशेष के सदस्यों की उनके अपने स्थापित आदर्श नियमों से प्राप्त की जाने वाली नकारात्मक मनोवृत्ति है।

न्यकाम्ब: पूर्वाग्रह एक विरोधात्मक मनोवृत्ति है, प्रत्यक्षीकरण कार्य करने तथा सोचने से पूर्व की स्थिति है और उसी दिशा में सोचने की क्रिया है जो प्रायः दूसरे समूह अथवा व्यक्ति के विरोध में है।

क्रंच तथा क्रचफोल्ड: पूर्वाग्रह का तात्पर्य उन अभिवृत्तियों तथा विश्वासों से है जो विषयों को लाभदायक अथवा हानिकारक परिस्थितयों में रख देता है। प्रजातिय पूर्वाग्रह का अभिप्राय किसी अल्पमत प्रजातीय समूह अथवा राष्ट्रीय समूह के प्रति अभिवृत्तियों से है जो कि उस समूह के सदस्यों के लिए हानिकारक है।

ड्रेवर का विचार है कि पूर्वाग्रह एक अभिवृत्ति है जो दूसरे व्यक्ति अथवा व्यक्तियों, वस्तुओं अथवा स्थितियों के सम्बन्ध में होती है। यह पक्ष तथा विपक्ष दोनों प्रकार की होती है। व्यक्ति अपने संवर्गों की अभिव्यक्ति इसी आधार पर करता है। ड्रेवर ने इस अभिवृत्ति का उचित विश्लेषण नहीं किया है। आगर्वन का कहना है कि पूर्वाग्रह एक प्रकार का बिना सोचे समझे निर्णय है। आगर्वन का यह कहना सही प्रतीत नहीं होता है क्योंकि यह निर्णय जल्दी में नहीं होता है बल्कि निर्णय के द्वारा मानसिक चेतना में एक स्थायी चित्र बन जाता है। किम्बाल यंग का कथन है कि पूर्वाग्रह रूढ़ियों, किंवदंतियों तथा पौराणिक कथाओं से बनता है। यह कथन काफी तथा क्रेचफील्ड ने पूर्वाग्रहों को अभिवृत्तियाँ तथा विश्वास बताया है, शेरिफ ने केवल समूह पूर्वाग्रहों की बात कही है। पूर्वाग्रह के ही आधार पर व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का स्थान निश्चित करता है तथा व्यवहार का रूप निश्चित होता है। उसकी मनोवृत्ति तथा विश्वास का यह अभिन्न अंग बन जाता है। परन्तु इसमें उतनी सच्चाई नहीं होता है। यह दूसरे समूह के कार्य, वस्तुओं, व्यक्तियों एवं सिद्धान्तों के अनुकूल या प्रतिकूल हो सकता है। उदाहरण के लिए जातियों में एक दूसरे के प्रति पूर्वाग्रह है। धर्म के आधार पर भी पूर्वाग्रह है। धर्म नष्ट होने का विचार पूर्वाग्रह से ही सम्बन्धित है।

8.3.3 पूर्वाग्रह के कारक

पूर्वाग्रहों के लिए अनेक कारक उत्तरदायी हैं जो निम्नलिखित हैं-

1. मानव संगठन एवं प्रतिमानों द्वारा सम्भव होता है अर्थात् सामाजिक व्यवस्था को स्थिर रखने के लिए पूर्वाग्रह से संबंधित जानकारी प्राप्त हुयी कि पूर्वाग्रह में निर्णय बिना किसी पूर्व आधार के लिए जाता है। इसके साथ ही पूर्वाग्रह के अर्थ, प्रकृति व प्रकार के साथ कारक के बारे में भी जानकारी प्राप्त हुयी। का निमार्ण प्रत्येक समाज में होता है। इन आदर्शों का स्थान व्यक्ति के व्यवहार का अंग बन जाते हैं। जिन समाजों के आदर्श एक समाज के आदर्श से भिन्न होते हैं। जिन समाजों के आदर्श एक समाज के आदर्श से भिन्न होते हैं व्यक्ति उनके प्रति पूर्वाग्रहों का विकसित कर लेते हैं।
2. परिवार वह प्रमुख अंग है जिसके माध्यम से व्यक्ति समाज की मान्यताओं को सीखता है। माता-पिता के विचार, व्यवहार, आचरण तथा विश्वास बालक में अचेतन रूप से कार्य करते हैं। यदि माता-पिता के अन्दर किसी व्यक्ति समूह अथवा समाज के प्रति पूर्वाग्रह होता है। तो बालक भी उससे प्रभावित होते हैं।
3. प्रचार किसी बात को सत्य करने का अच्छा साधन है। पूर्वाग्रहों के विकास में यही कथन सत्य होता है। जब किसी राष्ट्र या समुदाय के खिलाफ प्रचार किया जाता है। तो लोग उस पसम्प्रदाय अथवा सम्प्रदाय राष्ट्र के प्रति पूर्वाग्रह विकसित कर लेते हैं। राजनैतिक दलों का भी यही हाल होता है।
4. प्रत्येक समाज में कार्य करने के नियम होते हैं और इन नियमों को जो तोड़ता है उन्हें दण्डित भी करने की व्यवस्था होती है। अर्थात् व्यवहार के लिए प्रोत्साहन तथा प्रतिबन्ध दोनों समाज में पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए हिन्दू समाज व्यवस्था में अनेक निषेध हैं। ये निषेध न केवल सीखने तथा ज्ञान से सम्बन्धित हैं बल्कि उच्च जातियों एवं निम्न जातियों के पारस्परिक व्यवहार के सम्बन्ध में भी हैं। इसके परिणामस्वरूप सामाजिक दूरी बढ़ती है तथा पूर्वाग्रह स्थायी बन जाते हैं।
5. कभी-कभी किसी विषय को लेकर साम्प्रदायिक हिंसा हो जाती है, जिसका परिणाम यह होता है कि एक समुदाय के व्यक्ति दूसरे समुदाय के घृणा करने लगते हैं।

6. सामाजिक संगठन में स्तरीकरण पाया जाता है जिसके कारण जाति के लोगों में ऊँच तथा नीच की भावना निरर्थक बन जाती है। वे अन्य जातियों को नीचा मानते हैं। इस भावना के परिणामस्वरूप अनेक प्रकार के पूर्वाग्रह जन्म लेते हैं।
7. प्रत्येक व्यक्ति उन्नति एवं विकास के शिखर पर पहुँचना चाहता है परन्तु इसके लिए उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। जब ये कठिनाइयाँ किसी वर्ग विशेष से निरन्तर काफी समय तक आती रहती हैं तो व्यक्ति उस वर्ग के प्रति विरोधी भावना का विकास कर लेता है।
8. बालक सीखने के माध्यम से ही अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं को भी सीखता है। इस प्रक्रिया द्वारा वह अन्य संस्कृतियों के विषय में भी ज्ञान प्राप्त करता है, परन्तु दूसरे के नियम, रीति-रिवाज अजीबोगरीब लगते हैं। अतः इसके प्रति पूर्वाग्रह विकसित हो जाते हैं।
9. पूर्वाग्रहों के निर्माण में धर्म महत्वपूर्ण होता है। जो लागे जितना धर्म के पालन करने वाले होते हैं उनमें उतना ही पूर्वाग्रहों में विश्वास होता है।
10. भौगोलिक कारक के अन्तर्गत जलवायु, तापक्रम, मिट्टी, धरातल, की बनावट, खनीज, पदार्थ, पर्वत आदि आते हैं। ये परिस्थितियाँ व्यक्ति के रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा आदि को प्रभावित करती हैं। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि व्यक्ति का बौद्धिक स्तर, कार्यक्षमता, अपराध, परम्परायें, प्रथायें, धर्म, संगठन, समाज की प्रगति एवं उन्नति तथा भौगोलिक स्थितियों पर निर्भर है। इसके परिणाम स्वरूप एक प्रकार के व्यक्ति दूसरे समूह के व्यक्तियों से घृणा करने लगते हैं।
11. राजनैतिक दल अपने दल को मशहूर करने के लिए तथा सदस्य संख्या बढ़ाने के लिए अन्य दलों के सम्बन्ध में सही एवं गलत दोनों प्रकार का प्रचार करते हैं। उदाहरण के लिए जनता पार्टी को साम्प्रदायिक कहा जाता है। इस प्रकार के प्रचार से एक विशेष से एक विशेष दल के सदस्यों के प्रति अच्छा भाव की नहीं रह पाता है।
12. ऐतिहासिक कारकों का भी प्रभाव पूर्वाग्रहों के विकास पर पड़ता है। उदाहरण के लिए भारत पर अनेक विदेशियों ने आक्रमण किये तथा हमारी संस्कृति पर कुठाराघात किये इसका परिणाम यह हुआ कि हम लोगों ने अंग्रेजों तथा मुसलमानों के विषय में नकारात्मक पूर्वाग्रहों को निर्मित कर लिया।

8.3.4 पूर्वाग्रहों के स्वरूप (प्रकार)

पूर्वाग्रह निर्णयों के अनेक प्रकार हो सकते हैं। उनमें से कुछ प्रमुख निम्न हैं:-

- (1) वर्ण- भारतीय संस्कृति की स्थिरता के लिए सामाजिक स्तरीकरण की जटिल व्यवस्था की गयी थी। सामाजिक स्तरीकरण की एक सुनियोजित नीति के आधार पर सम्पूर्ण समाज को चार कार्यात्मक भागों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक भाग के सदस्यों के कर्तव्य निश्चित कर दिये गये हैं। इसी व्यवस्था को हम वर्ण व्यवस्था के नाम से जानते हैं। सामाजिक विभाजन के परिणामस्वरूप ऊँच नीच की व्यवस्था के कारण पूर्वाग्रह निर्मित हो गये जो निरन्तर चले आ रहे हैं। उच्च वर्ण के लोग निम्न वर्ण के प्रति तथा इसके विपरीत निम्न वर्ण के लोग उच्च वर्ण के प्रति अनेक गलत धारणाएँ बना रखी हैं।
- (2) भाषा-भाषा की भिन्नता भी मनुष्य के व्यवहार की प्रभावित करती है। भाषा के आधार पर विश्व अनेकों टुकड़ों में बाँटा जाता है। इसी प्रकार भारत में भी हजारों भाषायें प्रचलित हैं। एक ही प्रदेश में अनेकों भाषायें बोली जाती हैं। एक भाषा बोलने वाला व्यक्ति दूसरों के प्रति अनेक धारणाएँ बना लेता है। भाषा के अन्तर के कारण

विचारों का आदान-प्रदान कम हो पाता है अतः एक दूसरे की भाषा असंगत लगती है। यहाँ तक कि भाषा के नाम पर दंगे भी होने लगे हैं।

(3) धर्म- धर्म शब्द धृ धातु से बना है जिसका अर्थ है धारण करना, बनाये रखना। इसका तात्पर्य है कि जो तत्व सम्पूर्ण संसार के जीवन को धारणा करता हो तथा जिसके बिना सामान्य अर्थ में जिस प्रकार हम दैनिक आधार पर समाज अनेकों सम्प्रदायों में विभक्त है जैसे हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म आदि सभी धर्म वाले अपने को श्रेष्ठ बताते हैं। इस कारण दूसरे धर्म के प्रति विरोधी भावनाएँ बन गयी हैं।

(4) जाति- जाति व्यवस्था संसार के सभी स्थानों पर विद्यमान है और यह सभी धर्मों के व्यक्तियों को प्रभावित करती है। मुसलमानों में भी 94 जातियाँ हैं। यूरोप में भी जिप्सी लोगों को निम्नजाति का मानते हैं। प्रजाति के आधार पर नीग्रों व्यक्तियों को निम्न माना जाता है। गोरे अमरीकी बच्चों को उनसे अलग रखा जाता है। ईसाईयों में भी धर्म के आधार पर कैथोलिक तथा प्रोटेस्टैन्ट दो प्रमुख वर्ग हैं जिनमें जाति के समान ही नियंत्रण है।

(5) रंग- प्रायः प्रत्येक देश में गौर वर्ण को प्राथमिकता मिलती है जिसके कारण उनमें गोरेपन का गौरव या घमंड आज जाता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण अमरीका है जहाँ गोरे तथा काले दोनों के बीच अनेकों पूर्वाग्रह हैं। गौर लोग काले लोगों के साथ उठना बैठना खाना-पीना अच्छा नहीं समझते हैं। उन लोगों में यह पूर्वाग्रह है कि काले लोगों की अपेक्षा अधिक योग्य और प्रतिभाशाली होते हैं।

(6) शारीरिक रचना एवं आकृति- प्रत्येक प्रजाति के व्यक्तियों की शारीरिक बनावट तथा मुखाकृति भिन्न होती है। अतः एक प्रकार के मुखाकृतियों के लोग आपस में आकर्षित होते हैं तथा दूसरों के प्रति गलत धाराणाओं का निर्माण करते हैं तथा पूर्वाग्रहों के आधार पर ही व्यवहार करते हैं।

(7) राष्ट्रीयता- विश्व का प्रथम विभाजन राष्ट्रों द्वारा किया गया है। प्रत्येक राष्ट्र की विशेषताएँ दूसरों राष्ट्रों से भिन्न होती हैं। अतः दूसरे राष्ट्रों के प्रति अच्छा भाव विकसित नहीं होता है। कुछ न कुछ आधार लेकर पूर्वाग्रह बन जाते हैं।

(8) गंध-जलवायु की भिन्नता के कारण शरीर से निकलने वाली गंध भी भिन्न-भिन्न होती है। एक गन्ध वाला व्यक्ति दूसरी प्रकार की गन्ध आने वाले व्यक्ति से ताल-मेल अधिक नहीं रख पाता है। उदाहरण के लिये जो लोग सिगरेट बीड़ी पीते हैं उनके मुँह से अजीब सी गंध आती है। जिसके कारण नपीने वाले उसे पसन्द नहीं करते हैं।

(9) पहनावा- प्रत्येक संस्कृति का पहनावा पृथक-पृथक होता है और अपनी वेष भूषा उसे श्रेष्ठ प्रतीत होती है। पंजाब, बंगाल, पहाड़, मद्रास आदि के लोगों का अलग-अलग पहनावा है। पहाड़ों का पहनावा बिल्कुल भिन्न है। शहर तथा गाँव के पहनावों में भी अन्तर है। शहर में सर ढँकना पिछड़ापन का द्योतक है परन्तु गाँव में सर ढँकना पागलपन तथा फूहड़पन है। सड़ प्रकार वेष भूषा के आधार पर अनेकों पूर्वाग्रह बन जाते हैं।

(10) आर्थिक स्थिति- आर्थिक स्थिति के आधार पर भी अनेकों पूर्वाग्रह निर्मित हो जाते हैं क्योंकि इस आधार पर भी अनेकों स्तर हैं। व्यवसाय के आधार पर अनेकों संगठन हैं तथा अनेकों वर्ग हैं। वर्ग संघर्ष निरन्तर चलता रहता है तथा एक आर्थिक स्तरके लोग दूसरे स्तरके लोगों से ईर्ष्या रखते हैं।

(11) राजनैतिक स्थिति-वर्तमान समाज में अनेकों राजनैतिक दल हैं और प्रत्येक दल एक निश्चित लक्ष्य और कार्यक्रम रखता है। लक्ष्य और कार्यक्रमों के आधार पर दलों के बीच अन्तर पाया जाता है।

उपरोक्त द्वारा पूर्वाग्रह के अर्थ, प्रकृति व प्रकार के बारे में कहा जा सकता है कि समाज में जो पूर्वाग्रह प्रचलित हैं वे किसी अध्ययन से निर्मित किये गये हैं बल्कि जो किसी कारण एक बार निर्मित हो गये उनका आँख मूँद कर

पालन किया जाता है। यह सोचा एवं समझा नहीं जाता है कि इस प्रकार की धारणा में कितनी सच्चाई है। उदाहरण के लिए यह समझा जाता है कि ब्राह्मण बुद्धिमान होता है तथा शूद्र मूर्ख। बालक जन्म से पूर्वाग्रहों से परिचित नहीं होता है, वह इनका ग्रहण आयु बढ़ने के साथ-साथ होता है, क्रमिक विकास होता है। बालक में ये भावनायें शिक्षा द्वारा विकसित होती हैं। दूसरी जाति, दूसरे राष्ट्र तथा दूसरी प्रजाति के प्रति मित्र भाव का विकास शिक्षा तथा अनुभव द्वारा होता है। बालक खुद परिवार के सदस्यों माता-पिता, भाई-बहन तथा विद्यालय व मित्र मण्डली के अनुरूप निर्मित करता है। यद्यपि पूर्वाग्रहों का निर्माण चेतन स्तर पर भी हो सकता है परन्तु अधिकांशतः पूर्वाग्रह अचेतन स्तर पर ही होते हैं क्योंकि व्यक्ति जानबूझ कर शायद ही ऐसा निर्णय लेता हो कि विशेष जाति के व्यक्ति या विशेष समुदाय एवं धर्म के व्यक्ति बुरे हैं एवं हमें उनसे घृणा करनी चाहिए। पूर्वाग्रह के दो रूप होते हैं पक्ष में या विपक्ष में। जब व्यक्ति के पूर्वाग्रह पक्ष में होते हैं तो उस व्यक्ति एवं समुदाय की ओर अपना मित्रता का हाथ बढ़ाता है एवं सहयोग के लिए प्रयास करता है। इसके विपरीत विपक्षी होने में उसके मन में उस व्यक्ति एवं जाति के प्रति घृणा उत्पन्न होती है, मनोवृत्ति एक प्रकार की मानसिक स्थिति होती है जो अनुभवों द्वारा संगठित होती है और व्यक्ति होती है जो अनुभवों द्वारा संगठित होती है और व्यक्ति के प्रत्युत्तर को गति प्रदान करती है। किसी व्यक्ति, समूह, स्थिति आदि के बारे में सोचने की हमारी जो निश्चित दिशा होती है वह मनोवृत्ति कहलाती है। पूर्वाग्रह तथा सत्यता में कोई सम्बन्ध नहीं होता है क्योंकि जब तक पूर्वाग्रह कार्य करते रहेंगे तब तक कोई जानकारी प्राप्त नहीं की जा सकती है। सत्यता केवल इतनी ही होती है कि व्यवहार का रूप उसी के अनुरूप होता है। निष्पक्ष रूप से निर्णय का अन्वेषण करने पर हो सकता है पूर्वाग्रह सत्य ही हों परन्तु इसके विपरीत भी हो सकता है। गाँवों में छुआ-छूत में अभी भी विश्वास है परन्तु वही लोग जब शहर में आते हैं तो इसमें विश्वास नहीं रखते हैं। पूर्वाग्रह किसी निर्णय पर आधारित नहीं होते हैं बल्कि इन्हें बिना किसी तर्क के स्वीकार कर लिया जाता है। माता पिता, भाई बहन, मित्र, शिक्षक आदि से सीखे व्यवहार दृढ़ होते हैं। पूर्वाग्रहों को व्यक्ति न केवल अनुभव करता है बल्कि उन्हें प्रगट भी करता है। इस अभिव्यक्ति के कारण संवेग भी प्रगट होते हैं। हाव, भाव बोलचाल से संवेग व्यक्त हो जाते हैं। इस प्रकार की मनोवृत्ति एवं निर्णय द्वारा हम अपनी आन्तरिक स्थिति को संतोष देते हैं। इससे संतोष प्राप्त होता है।

8.3.5 पूर्वाग्रहों के लाभ एवं हानियाँ:

पूर्वाग्रहों की उपस्थिति प्रत्येक स्तर पर होती है चाहे यह व्यक्ति हो, समूह हो, जाति हो, प्रजाति हो, वर्ण हो, सम्प्रदाय हो या राष्ट्र हो। व्यक्ति का व्यवहार इनसे प्रभावित होत है तथा इन्हें परिवर्तित करना कठिन होता है। इनसे लाभ तथा हानियाँ दोनों होती हैं जो निम्नांकित हैं :

पूर्वाग्रहों के लाभ :

पूर्वाग्रहों द्वारा व्यक्ति स्वयं संतोष प्राप्त करता है। प्रत्येक की यह मौलिक इच्छा होती है कि उसका समाज में मान सम्मान हो, इज्जत हो, उच्च स्थान हो परन्तु इसके प्राप्त करने में तथा उसे बनाये रखने में अनेको कठिनाइयाँ होती हैं अतः व्यक्ति पूर्वाग्रह बनाकर संतोष प्राप्त करता है। यद्यपि वास्तविकता नहीं होती है परन्तु वैचारिकी के स्तर पर अव्यय मान सम्मान की रक्षा होती है। उदाहरण के लिए अच्छा पद न प्राप्त होने की स्थिति में अपनी जाति का घमंड या वर्ण का घमण्ड आदि उसे सान्त्वना देता है। सामाजिक एकरूपता एवं समायोजन करने में भी पूर्वाग्रह काफी सहायक होता है। सामाजिक मान्यता के लिए ये सभी आवश्यक अंग हैं। व्यक्ति पूर्वाग्रह के माध्यम से

समाज के अनुरूप व्यवहार करता है जिससे उसे सामाजिक मान्यता प्राप्त होती है। पूर्वाग्रहों से चिन्ता भी कम होती है।

पूर्वाग्रह से हानियाँ:

पूर्वाग्रह से जहाँ कुछ लाभ होते हैं वही पर उससे हानियाँ भी सम्भव है। इससे निम्न हानियाँ प्राप्त होती हैं- आपसी द्वेष भाव के कारण सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ता है तथा जिस व्यक्ति अथवा समूह के प्रति द्वेष रखते हैं उससे मित्रवत व्यवहार सम्भव नहीं है। सम्बन्ध विच्छेद होना स्वाभाविक हो जाता है। समाज कई खण्डों में विभाजित हो जाता है तथा कई इकाइयों में वैमनस्य की भावना आज़ जाती है। उन्नति के लिये आवश्यक होता है कि सामाजिक एकता तथा संगठन हो? सामाजिक समूह संगठित होकर सामाजिक उत्थान का कार्य करें परन्तु पूर्वाग्रहों के कारण ऐसा सम्भव नहीं हो पाता है जिससे उन्नति में बाधा पड़ती है। हड़ताल, तालाबंदी आदि का कारण कुछ भी हो परन्तु पूर्वाग्रह प्रमुख भूमिका निभाते हैं। क्योंकि पूँजीपति तथा श्रमिक दोनों एक दूसरे के प्रति अच्छा भाव नहीं रखते हैं। उसमें सदैव तनाव बना रहता है। इसके परिणामस्वरूप उत्पादन कम होता है। जब किसी समाज में अनेक पूर्वाग्रह होते हैं तो वे संगठित नहीं हो पाते इनसे प्रजातन्त्र के बाधा पहुँचती है। मनोवृत्ति तथा विश्वास जो अतार्किक होते हैं तथा सत्यता से परे होते हैं व्यक्तित्व का अभिन्न अङ्ग बन जाते हैं। इससे समायोजन में कठिनाई होती है।

8.4 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन में मानव व्यवहार की अवधारणा के विषय में जानकारी मिली। मानव व्यवहार के मूलाधार के विषय में ज्ञान प्राप्त किया तथा अन्त में मानव व्यवहार की विशेषताओं का अध्ययन किया। साथ ही हमें इस इकाई में पूर्वाग्रह से संबंधित जानकारी प्राप्त हुयी कि पूर्वाग्रह में निर्णय बिना किसी पूर्व आधार के लिए जाता है। इसके साथ ही पूर्वाग्रह के अर्थ, प्रकृति व प्रकार के साथ कारक के बारे में भी जानकारी प्राप्त हुयी।

8.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

- मनोवृत्ति से आप क्या समझते हैं? इसका अर्थ स्पष्ट कीजिए।
- मनोवृत्ति के कितने प्रकार होते हैं?
- पूर्वाग्रह से आप क्या समझते हैं? परिभाषाओं से स्पष्ट कीजिए।
- पूर्वाग्रह के कितने प्रकार हैं?

8.6 संदर्भ ग्रंथ

- शर्मा, सीमा, व्यक्तित्व विकास के सिद्धान्त, रावत प्रकाशन, 2012,
- शर्मा, सुनीता, सामान्य मनोविज्ञान, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, 2011,
- मूरजानी, जे0 सामाजिक मनोविज्ञान, आविष्कार पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, जयपुर, 2007,

- सिंह, अरूण कुमार, आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली।
- चैबे, सरयू प्रसाद, आधुनिक सामाजिक मनोविज्ञान के मूल तत्व, काँन्सेप्ट पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली, 2002
- चैबे, सरयू प्रसाद, सामान्य मनोविज्ञान के मूल तत्व, काँन्सेप्ट पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली, 2005।
- सुलेमान, मोहम्मद एवं तौबाब मुहम्मद, असामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली, 2004।
- सिंह, रतन, सामाजिक मनोविज्ञान, ओमेगा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2009,
- होनिंग, डब्लूके0 आपरेन्ट बिहैवियर, एप्लेटन सेन्चुरी क्रफ्ट्स, न्यूयार्क, 1966
- हल, सी0एल0 प्रिन्सिपिल्स आफ बिहैवियर, एप्लेटन सेन्चुरी क्रफ्ट्स, न्यूयार्क, 1943
- मिश्रा, एम0के0 असामान्य मनोविज्ञान, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस, 2011,
- वर्मा, रामपाल सिंह, नैदानिक मनोविज्ञान, विनो पुस्तक मंदिर, आगरा, 1981
- मिश्रा, पी0डी0, एवं मिश्रा बीना, व्यक्ति एवं समाज, न्यू रायल बुक कम्पनी, लखनऊ, 2010,
- यादव के0एन0 सिंह यादव रामजी, तुलनात्मक और शिक्षा मनोविज्ञान अर्जुन पब्लिशिंग हाउस, 2008
- मिश्रा महेन्द्र कुमार विकासात्मक मनोविज्ञान, यूनिवर्सिटी बुक हाउस (प्रा.) लि. जयपुर, प्रथम संस्करण, 2007
- कटारिया, सुरेन्द्र, प्रशासनिक चिंतक, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर एवं दिल्ली, 2005,
- मैस्लो, ए. एच., मोटीवेशन एण्ड पर्सनालिटी, हारपर एण्ड रो, न्यूयार्क, 1954।
- वर्मा प्रीती, श्रीवास्तव डी0एन0 सामान्य मनोविज्ञान विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा 2007

.....

समाजीकरण

इकाई की रूपरेखा

- 9.0 उद्देश्य
- 9.1 प्रस्तावना
- 9.2 समाजीकरण का अर्थ एवं परिभाषा
- 9.3 समाजीकरण की विशेषताएं
- 9.4 समाजीकरण के स्तर
- 9.5 समाजीकरण के अभिकरण
- 9.6 सारांश
- 9.7 बोध प्रश्न
- 9.8 सन्दर्भ ग्रंथ

9.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप –

- व्यक्ति के लिए समाज व सामाजिक सम्पर्क क्यों आवश्यक है यह जान सकेंगे।
- समाजीकरण के विभिन्न स्तरों के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- समाजीकरण की प्रक्रिया में परिवार, पड़ोसी व मित्र समूह की भूमिका के सन्दर्भ में विवेचना कर सकेंगे।
- स्व या आत्म के विकास के सन्दर्भ में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना :

प्रत्येक शिशु जन्म के समय एक संगठित शारीरिक ढांचा मात्र होता है। वह न तो अपने बारे में और न ही समाज के बारे में कुछ जानता है और न ही किसी सामाजिक गतिविधि में भाग लेने की स्थिति में होता है। उसमें किसी प्रकार के सामाजिक गुण नहीं होते। वह न तो सामाजिक होता है न असामाजिक और न समाज विरोधी। समाज में उसे किस तरह का व्यवहार करना चाहिए, समाज के क्या नियम कानून हैं, समाज के रीति रिवाजों मूल्यों व मानदण्डों आदि से वह अनभिज्ञ होता है लेकिन वह कुछ शारीरिक क्षमताओं के साथ पैदा होता है, इन क्षमताओं के कारण ही वह बहुत कुछ सीख लेता है और समाज का क्रियाशील सदस्य बन जाता है। यह सीखने की क्षमता समाज व सामाजिक सम्पर्क से ही विकसित होती है। सामाजिक सम्पर्क के कारण ही व्यक्ति समाज के रीति- रिवाजों, प्रथाओं मूल्यों, विश्वासों संस्कृति एवं सामाजिक गुणों को सीखता है और सामाजिक प्राणी का दर्जा प्राप्त करता है। इस सीखने की प्रक्रिया को ही समाजीकरण कहते हैं। समाजीकरण की प्रक्रिया प्राणी शास्त्रीय प्राणी को सामाजिक प्राणी में बदल देती है।

बालक का जन्म परिवार में होता है। परिवार समाज की महत्वपूर्ण इकाई है। सर्वप्रथम परिवार के माध्यम से ही बालक अपने सामाजिक, सांस्कृतिक व भौतिक पर्यावरण को आत्मसात करता है। परिवार ही बालक को समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बनाता है। परिणामस्वरूप वह समाज की गतिविधियों में भाग लेने में समर्थ होता है। समाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति को सामान्य व्यवहार करने में समर्थ बनाती है।

9.2 समाजीकरण का अर्थ एवं परिभाषा

समाजीकरण का अर्थ नवजात शिशु को सामाजिक प्राणी बनाने की प्रक्रिया से लिया जाता है। समाजीकरण की अवधारणा का प्रयोग उन प्रक्रियाओं के लिए किया जाता है जिनके द्वारा व्यक्ति को सामाजिक सांस्कृतिक संसार से परिचित कराया जाता है। इस अर्थ में समाजीकरण वह विधि है जिसके द्वारा संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तान्तरित किया जाता है। इसके द्वारा व्यक्ति अपने समूह एवं समाज के मूल्यों जनरीतियों लोकाचारों, आदर्शों एवं सामाजिक उद्देश्यों को सीखता है। समाजीकरण का अर्थ निम्न परिभाषाओं से और स्पष्ट हो जायेगा।

जॉनसन के अनुसार : “समाजीकरण सीखने की वह प्रक्रिया है जो सीखने वाले को सामाजिक भूमिकाओं का निर्वाह करने के योग्य बनाती है” इसका तात्पर्य है कि अपनी प्रस्थिति का बोध व उसके अनुरूप भूमिका निभाने की विधि को हम समाजीकरण द्वारा सीखते हैं।

गिलिन व गिलिन : “ समाजीकरण से हमारा तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह में एक क्रियाशील सदस्य बनने हेतु समूह की कार्यविधियों से समन्वय स्थापित करता है उसकी परम्पराओं का ध्यान रखता है और सामाजिक परिस्थितियों से अनुकूलन करके अपने साथियों के प्रति सहन शक्ति की भावना को विकसित करता है।” गिलिन व गिलिन ने समाजीकरण का आशय एक ऐसी प्रक्रिया से लिया है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह का क्रियाशील सदस्य बनता है। समाजीकरण ही व्यक्ति का सामाजिक परिस्थिति से अनुकूलन कराता है और व्यक्ति में सहनशक्ति की भावना को विकसित करता है।

ब्रूम व सेल्जिनिक: के अनुसार समाजीकरण के दो पूरक अर्थ हैं – “संस्कृति का हस्तान्तरण और व्यक्तित्व का विकास” इसका अर्थ है कि समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा ही एक व्यक्ति अपनी संस्कृति को सीखता है। संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती है और संस्कृति को सीखकर ही बालक के व्यक्तित्व का विकास होता है।

टालकट पारसन्स : व्यक्ति द्वारा सामाजिक मूल्यों को सीखने और उन्हें आन्तरीकृत करने को ही समाजीकरण कहते हैं। व्यक्ति समाजीकरण के द्वारा सामाजिक मूल्यों को सीखता ही नहीं वरन् उनको आत्मसात करता है। ये मूल्य उसके मस्तिष्क व व्यक्ति की स्थायी निधि बन जाते हैं जिससे एक विशिष्ट प्रकार की सामाजिक स्थिति में वह हमेशा वैसा ही व्यवहार करता है।

हारालोम्बोस ने लिखा है “वह प्रक्रिया जिसके द्वारा लोग अपने समाज की संस्कृति को सीखते हैं समाजीकरण के नाम से जानी जाती है।”

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह अथवा समाज की सांस्कृतिक विशेषताओं को ग्रहण करता है, अपने व्यक्तित्व का विकास करता है और समाज का क्रियाशील सदस्य बनता है। समाजीकरण द्वारा व्यक्ति सामाजिक मानदण्डों को सीखता है और समाज के साथ अपना अनुकूलन करता है, इससे समाज में नियन्त्रण बना रहता है। समाजीकरण सभी सदस्यों को समाज सम्मत व्यवहार सिखाकर सामाजिक नियन्त्रण की समस्या को हल कर देता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि

सामाजिक मानदण्डों, मूल्यों व समाज सम्मत व्यवहार को सीखने की प्रक्रिया ही समाजीकरण है जो व्यक्ति को समायोजित व्यवहार करना सिखाती है।

9.3 समाजीकरण की विशेषताएं

समाजीकरण के अर्थ एवं परिभाषा द्वारा इसकी कुछ विशेषताएं उभर कर सामने आती हैं जो निम्नलिखित है

1. समाजीकरण आजीवन चलने वाली प्रक्रिया –

कुछ लोग इस भ्रम में होते हैं कि बालक का समाजीकरण आरम्भिक वर्षों में ही होता है लेकिन वास्तविकता यह है कि समाजीकरण कुछ विशेष समय तक चलने वाली प्रक्रिया नहीं है वरन् बच्चे के जन्म से लेकर मृत्यु तक चलने वाली प्रक्रिया है। समाजीकरण की प्रक्रिया आजीवन चलती रहती है। व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु तक अनेक प्रस्थितियां धारण करता है और उनके अनुसार भूमिका निर्वाह करना सीखता है। बचपन में वह पुत्र-पुत्री के रूप में माता-पिता भाई-बहिन व अन्य सम्बन्धियों के साथ व्यवहार करना सीखता है। बड़े होकर नए पदों के अनुरूप भूमिका का निर्वाह करना सीखता है। समाज में व्यक्ति को अनेक परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है जैसे पदाधिकारी के रूप में यात्रा करते समय क्रेता या विक्रेता के रूप में अलग अलग भूमिकाएं होती हैं जिनके अनुसार उसे व्यवहार करना होता है। इस प्रकार जन्म से मृत्यु तक नई-नई प्रस्थितियां हमारे सामने आती रहती हैं तथा हम उनसे संबंधित व्यवहार को सीखते रहते हैं। मनुष्य के जीवन काल में समाजीकरण की प्रक्रिया कभी समाप्त नहीं होती।

2. सीखने की प्रक्रिया–

समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया है। इस सीखने की प्रक्रिया में सामाजिक मूल्यों मानदण्डों एवं समाज स्वीकृत व्यवहारों को लिया जा सकता है। इन समाज सम्मत व समायोजित क्रियाओं को सीखकर व्यक्ति समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बन जाता है। अतः समाज सम्मत व्यवहारों, प्रतिमानों व मूल्यों को सीखना ही समाजीकरण है क्योंकि ये क्रियाएं व्यक्ति को समाज का क्रियाशील सदस्य बनाती हैं, जबकि चोरी करना, गाली देना आदि को समाजीकरण नहीं कहा जायेगा क्योंकि ये क्रियाएं 'ना तो समाज-स्वीकृत हैं और ना ही इन्हें सीख कर व्यक्ति समाज का क्रियाशील सदस्य बनता है।

3. समय व स्थान सापेक्ष प्रक्रिया –

समाजीकरण की प्रक्रिया समय व स्थान सापेक्ष है। जो व्यवहार एक समाज में मान्य हैं किसी दूसरे समाज या स्थान पर वही व्यवहार अमान्य ठहराए जा सकते हैं। उदाहरणार्थ अफ्रीका की मसाई जनजाति में एक दूसरे के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए एक दूसरे पर थूकना सिखाया जाता है, किन्तु यह व्यवहार भारत में अनुचित व निन्दनीय माना जाता है।

समाजीकरण की प्रक्रिया समय सापेक्ष भी है। समय सापेक्ष का अर्थ है एक समाज में दो भिन्न कालों में समाजीकरण की विषय वस्तु अलग-अलग हो सकती है। उदाहरण के लिए प्राचीन भारत में नव विवाहित वधु से पर्दे की अपेक्षा की जाती थी लेकिन आधुनिक भारत में नये मूल्यों के प्रादुर्भाव से इस प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा नव वधु से नहीं की जाती।

4. संस्कृति को आत्मसात् करने की प्रक्रिया:

समाजीकरण की प्रक्रिया में हम संस्कृति को आत्मसात् करते हैं जिससे संस्कृति व्यक्ति का अंग बन जाती है। संस्कृति के दो रूप हैं (1) भौतिक संस्कृति (2) अभौतिक संस्कृति। भौतिक संस्कृति के अन्तर्गत मानव निर्मित

मूर्त वस्तुएँ आती हैं जैसे मकान, पंखा टेबल, पैना आदि। अभौतिक संस्कृति में मानव निर्मित अभौतिक या अमूर्त वस्तुएँ आती हैं जैसे विचार, रीति रिवाज, मानदण्ड व मूल्य आदि समाजीकरण संस्कृति के दोनों रूपों भौतिक व अभौतिक स्वरूपों को आत्मसात करने की प्रक्रिया है।

5. समाजीकरण समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बनाने की प्रक्रिया –

समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति सामाजिक कार्यों में भाग लेने योग्य बनता है। इसी के द्वारा वह प्राणी शास्त्रीय प्राणी से सामाजिक प्राणी में बदल जाता है। पद-प्रस्थिति के अनुसार भूमिका निर्वाह करना सीख जाता है और अन्य व्यक्तियों की अपेक्षाओं के अनुसार व्यवहार करने लगता है। समाजीकरण के अभाव में व्यक्ति समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य नहीं बन सकता।

6. “स्व” का विकास:

समाजीकरण के द्वारा व्यक्ति में स्वयं के प्रति चेतना तथा जागरूकता का विकास होता है। व्यक्ति में इस ज्ञान का विकास होता है कि समाज के अन्य सदस्य उसके संबंध में क्या सोचते हैं। समाजीकरण प्रक्रिया की सबसे प्रमुख विशेषता यही है कि इसके द्वारा व्यक्ति स्वयं का मूल्यांकन दूसरे व्यक्तियों की दृष्टि से करना सीखता है। इसी को समाज शास्त्रियों ने जैसे – कूले मीड, दुर्खीम आदि ने ‘स्व’ का विकास कहा है जो कि समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा ही संभव है।

9.4 समाजीकरण के स्तर

समाजीकरण सीखने की ऐसी प्रक्रिया है जो आजीवन चलती रहती है। यह प्रक्रिया काफी लम्बी होती है अतः विभिन्न मनोवैज्ञानिकों एवं समाज शास्त्रियों ने समाजीकरण को कई स्तरों में विभक्त कर देखने का प्रयास किया है। मानव शरीर की विशिष्ट संरचना के कारण उसमें सीखने की विशिष्ट क्षमता पायी जाती है और सामाजिक सीख के द्वारा वह अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। सीखने का कार्य केवल समाज में ही सम्भव है। अतः पारसन्स कहते हैं कि बच्चा उस पत्थर के समान है जिसे जन्म के समय समाज रूपी तालाब में फेंक दिया जाता है, जिसमें रहकर वह अपना समाजीकरण करता है और समाज का अंग बन जाता है। टॉलकट पारसन्स ने समाजीकरण के किशोरावस्था तक चार ही सोपान निम्न प्रकार से बताये हैं :-

मौखिकावस्था

शौच सोपान

ऑडिपल सोपान

किशोरावस्था

मौखिकावस्था.

गर्भ में भ्रूण गर्म और आरामपूर्वक रहता है। जन्म के समय शिशु प्रथम संकट का सामना करता है उसे सांस लेनी पड़ती है, उसे भूख लगती है, पेट मरने के लिए उसे श्रम करना पड़ता है। उसे सर्दी, गर्मी, गीलेपन आदि से पीड़ा होती है, वह रोता चिल्लाता है। इस अवस्था में बालक का मुँह महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है क्योंकि वह अपने मन का सन्तोष या दुख मुँह के हाव भावों द्वारा ही अभिव्यक्त करता है। इस स्थिति में वह मौखिक निर्भरता स्थापित करता है समाजीकरण का यह प्रथम स्तर है। इस अवस्था में शिशु अपने भोजन के बारे में संकेत देना शुरू करता है। शिशु अपना सुख दुख मुँह के माध्यम से व मुँह के हाव भाव से प्रकट करता है इसलिए इसे मौखिक अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में बच्चा परिवार के सभी सदस्यों से संबध स्थापित नहीं कर पाता, केवल माता से

ही वह अन्तः क्रिया कर पाता है। पारसन्स कहते हैं कि माता व शिशु की उप-प्रणाली बन जाती है। परिवार के दूसरे सदस्यों के लिए तो बालक महज एक 'सम्पदा' है। पिता या परिवार का कोई अन्य सदस्य माता की तरह बालक की देखभाल करने लगे तो भी भूमिका विभेद नहीं होता, वह भी माता की भूमिका ही निभाता है। इस अवस्था में बालक अपनी व अपनी माँ की भूमिका में अन्तर नहीं कर पाता। अतः माता व शिशु 'मिले हुए' रहते हैं। इस स्थिति को फ्रायड ने 'प्राथमिक परिचय' कहा है। मौखिक अवस्था में शिशु कुछ आन्तरीकृत करने की स्थिति में नहीं होता। इतना जरूर है कि उसे माता के साथ शारीरिक सम्पर्क से धुंधली सी उद्दीपन भाव की अनुभूति होने लगती है। इस मौखिक सोपान की अवधि लगभग एक से डेढ़ वर्ष तक की होती है।

शौच सोपानः

विभिन्न समाजों में इस स्तर का काल भिन्न-भिन्न है। वैसे सभी समाजों में यह स्तर एक से पांच वर्ष के बीच की अवधि में माना जाता है। इस स्तर पर बच्चे से यह अपेक्षा की जाने लगती है कि वह अपने आपको थोड़ा बहुत स्वयं सम्भाले। इस सन्दर्भ में उसे शौच प्रशिक्षण दिया जाता है। इस स्तर में बालक दो भूमिकाओं को आन्तरीकृत करता है – (1) अपनी और अपनी माता की भूमिका, जिसे वह अपने से भिन्न करने लग जाता है। (2) इस स्तर पर बालक को सही और गलत के बीच भेद करना सिखाया जाता है। सही कार्यों के लिए एक ओर जहां उसे पार का पुरस्कार प्राप्त होता है वहीं पर गलत कार्यों के लिए उसे दण्ड भी दिया जाता है। बालक इस स्तर पर परिवार के अन्य सदस्यों के साथ भी अन्तः क्रिया करता है और पारिवारिक व्यवहार प्रतिमान को अपनाता है।

यह अवस्था शौच संकट से आरम्भ होती है जिसके अन्तर्गत बच्चा स्वयं भी अपना ध्यान रखने लग जाता है। माता से उसका तादत्म्य हो जाता है। वह माता का प्यार पाता ही नहीं बल्कि से देता भी है। माँ उसे शौच संबंधी प्रशिक्षण देती है। माँ की भूमिका इस स्तर पर भी समाजीकरण में महत्वपूर्ण होती है। माता का यहां द्विपक्षीय कार्य है। प्रथम तो माँ-शिशु उप प्रणाली में साधक नेता के रूप में कार्य करती है, दूसरे पूरे परिवार में बच्चे का प्रतिनिधित्व करती है। अतः इस स्तर पर समाजीकरणकर्ता को स्वयं सामाजिक मूलों तथा सामाजिक व्यवहार प्रतिमान के प्रति सजग रहना पडता है ताकि बालक का समाजीकरण उचित हो सके। इस स्तर पर बालक बातचीत करना सीखता है तथा चलने फिरने लगता है अब उसके सामाजिक संबंध भी बढ जाते हैं क्योंकि वह परिवार के अन्य सदस्यों के साथ अन्तः क्रिया करने लगता है। इस अवस्था में बालक को थोड़ा कष्ट भी होता है क्योंकि यही वह अवस्था है जिसमें माँ उनकी दूध पीने की आदत में परिवर्तन लाना चाहती है।

ऑडिपल या गुप्तावस्था स्तरः

ऑडिपल स्तर सामान्यतया चौथे वर्ष से प्रारम्भ होकर बारह या तेरह वर्ष की आयु तक रहती है। मनोवैज्ञानिकों ने इस चरण को ऑडिपल संकट का काल कहा है। इस अवस्था में बालक यौन भेद की ओर सहज आकर्षण का अनुभव करता है। यही वह समय है जब उसमें ऑडिपल कॉम्प्लैक्स (Oedipus Complex) व इलेक्ट्रा कॉम्प्लैक्स (Electra Complex) दो प्रकार की ग्रन्थियाँ जन्म लेती है। (1) ऑडिपल कॉम्प्लैक्स लड़के की उस भावना को कहते हैं जिसके अनुसार वह अपनी माँ से प्यार करता है और वह चाहता है कि उसका पिता उसकी माँ को प्यार न करे। (2) इलेक्ट्रा कॉम्प्लैक्स लड़कियों की उस भावना को कहते हैं जिसमें वह चाहती है कि उनके पिता उनसे प्यार करे न कि उनकी माता से। ये भावनाएँ चार से बारह वर्ष की अवस्था में होती है। इसमें लड़के व लड़कियाँ क्रमशः माता-पिता से प्यार करना चाहते हैं और चाहते हैं कि पति-पत्नी (माता-पिता) आपस में प्यार न करे। उन्हें अपने माता-पिता से इर्ष्या होती है। फ्रायड ने कहा है कि इस अवस्था में बच्चों में यौन भावना जाग्रत हो जाती है, जिससे लड़के अपनी माँ व लड़कियाँ अपने पिता से प्यार करने लग जाते हैं।

इस अवस्था में समाजीकरण की प्रक्रिया दो रूपों में होती है (1) सामाजिक भूमिका से तादात्म्यीकरण – सामाजिक भूमिका से तादात्म्यीकरण करने के लिए वह अपनी भूमिका को आन्तरीकृत करता है, उससे संबंधित योग्यता को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है अर्थात् बालक पिता, भाई व परिवार के अन्य सदस्यों की आशाओं के अनुरूप भूमिका निभाना सीखता है।

(2) सामाजिक समूहों से तादात्म्यीकरण – सामाजिक समूहों से तादात्म्यीकरण करने के लिए वह परिवार, अपने लिंग के साथियों विद्यालय के साथियों व मित्रों के अनुरूप कार्य करता है। जॉनसन के अनुसार बालक समाजीकरण के तीसरे सोपान में तीन प्रकार से तादात्म्य स्थापित करता है। (1) परिवार (2) मित्र मण्डली (3) समाज के अनुरूप व्यवहार करके।

किशोरावस्था स्तर :

किशोरावस्था मानव जीवन का एक संक्रान्ति काल है। इस स्तर पर बच्चे अपने माता पिता के नियन्त्रण से मुक्त होना चाहते हैं। इसी काल में कैशोर्य संकट उपस्थित होता है। इस अवस्था में लड़के – लड़कियों में शारीरिक परिवर्तन स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लगते हैं। यौन संबंधी ज्ञान होने लगता है लेकिन यौन संबंधों की स्वतंत्रता न होने से किशोरावस्था में विभिन्न प्रकार के तनाव देखने को मिलते हैं। यह वह काल है जब वह सीमान्त संस्कृति पर होता है अर्थात् किशोर से बड़े व छोटे दोनों ही उसे खुले मन से स्वीकार नहीं करते। यह स्थिति उसके जीवन में उदात्तीकरण (Sublimation) के रूप में अभिव्यक्त होती है। उदात्तीकरण के अनुसार वह छोटों का साथ छोड़ने व बड़ों का साथ न मिल पाने के कारण इस मानसिक तनाव की स्थिति का हल अन्य कार्यों में देखता है अतः या तो वह अच्छा विद्यार्थी बन जाता है या बुरी प्रवृत्तियों में पड़ जाता है। इस काल में उसके साथ किये जाने वाले व्यवहार पर ही उसकी उन्नति व अवनति निर्भर करती है।

इस स्तर पर किशोर से यह आशा की जाती है कि वह अपने बारे में स्वयं निर्णय ले लेकिन साथ-साथ यह भी अपेक्षा की जाती है कि वह निर्णय परम्परागत हो तथा सामाजिक व्यवहार प्रतिमान से मेल खाता हो। किशोर को न केवल परिवार के सदस्यों अपितु पास-पड़ोस, विद्यालय तथा अन्य द्वितीयक समूहों के सदस्यों से सामंजस्य स्थापित करना होता है। किशोरावस्था एक तनाव का काल होता है। पश्चिमी जगत में तो इस स्तर पर एक किशोर आर्थिक रूप से स्वतंत्र होकर अपना अलग परिहार भी बसाता है। इस स्तर पर व्यक्ति से यह आशा की जाती है कि वह सामाजिक सांस्कृतिक पर्यावरण के अनुरूप व्यवहार करे।

ये चारों समाजीकरण के प्रमुख सोपान हैं। यहां यह नहीं समझा जाना चाहिए कि इन चार चरणों के बाद जीवन में समाजीकरण की प्रक्रिया रूक जाती है या समाप्त हो जाती है। यह प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया गया है कि समाजीकरण की प्रक्रिया आजीवन चलती रहती है। महत्वपूर्ण बात यह है कि उपर्युक्त चार सोपान व्यक्तित्व के लिए रचनात्मक हैं क्योंकि हमारा मूलभूत व्यक्तित्व इस काल तक बन चुका होता है। इन सोपानों के पश्चात अन्य सोपान भी समाजीकरण के लिए महत्वपूर्ण हैं। जो निम्नलिखित हैं –

युवावस्था:

इस अवस्था में व्यक्ति को अनेक नये पद प्राप्त होते हैं। उसे पति, पिता, दामाद, अधिकारी आदि की प्रस्थितियाँ प्राप्त होती हैं। युवा होने पर व्यक्ति को जितनी भी नई प्रस्थितियाँ मिलती हैं उन सबकी भूमिका – अपेक्षाओं का उसे निर्वाह करना पड़ता है। यह व्यवस्था उत्तरदायित्वों से भरी हुई होती है। इस अवस्था में परिवार व बाह्य जगत में महत्वपूर्ण दायित्वों को निभाता है। अतः कभी-कभी उसे भूमिका संघर्ष की स्थिति का सामना करना पड़ता है क्योंकि विभिन्न प्रस्थितियों का एक साथ पालन करना कठिन होता है।

प्रौढ अवस्था:

इस अवस्था में व्यक्ति पर और अधिक जिम्मेदारियां आ जाती है। उस पर बच्चों की शिक्षा, विवाह की जिम्मेदारी आ जाती हैं एवं व्यवसाय या वरिष्ठ अधिकारी के रूप में दायित्व संभालना होता है। जॉनसन कहते हैं कि वयस्कों का समाजीकरण सरल होता है क्योंकि (अ) वयस्क साधारणतः उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कार्य करने को प्रेरित होता है जो स्वयं देख चुका है (ब) जिस नयी प्रस्थिति को वह आन्तरीकृत करने का प्रयास करता है उसमें और पुरानी स्थितियों में काफी साम्य होता है (स) समाजीकरण करने वाला भाषा के माध्यम से आसानी से बोधगम्य कर सकता है। इन तीनों से समाजीकरण की प्रक्रिया सरल हो जाती है।

वृद्धावस्था:

वृद्धावस्था में व्यक्ति में शारीरिक, मानसिक व सामाजिक दृष्टि से कई परिवर्तन आ जाते हैं। अब उसे दादा, परदादा, नाना, श्वसुर आदि के रूप में नयी प्रस्थितियां प्राप्त होती हैं और वह उनके अनुसार भूमिका निभाता है। क्षीणकारी शारीरिक परिवर्तनों के कारण क्षमताएं और आकांक्षाएं भी घट जाती हैं। उसमें दुर्बलता आ जाती है। कार्य करने का पूर्व वत् सामर्थ्य नहीं रहता। इस अवस्था में वह सेवा निवृत्त हो जाता है। अब वह आर्थिक रूप से कमाने योग्य नहीं रहता। अतः उसे पराश्रित रहना पड़ता है। अधिक कार्य न कर पाने के कारण वृद्ध प्रायः भार समझे जाने लगते हैं। अतः पारिवारिक तनाव की स्थिति भी उपस्थित हो जाती है। पीढीगत भेद के कारण नवीन पीढी से उसका सामंजस्य नहीं हो पाता जिससे वह कुण्ठाग्रस्त हो जाता है। अतः यहां भी वृद्ध व्यक्ति को समाजीकरण की आवश्यकता पड़ती है ! इस अवस्था में वृद्धि में एक तरफ पूर्वावस्थाओं में सामाजीकृत भूमिकाओं के विसर्जन की प्रक्रिया शुरू हो जाती है तो दूसरी तरफ अवकाश कार्यों से सामंजस्य की। यद्यपि वृद्ध महत्वपूर्ण सामाजिक उत्तरदायित्वों का परित्याग कर देते हैं फिर भी सामाजिक परिस्थितियों व परम्पराओं के अनुसार वे अनेक हल्के फुल्के कार्य करते हैं जैसे बच्चों की, घर की व बगीचे की देखभाल आदि। अनुभवी परामर्शक के रूप में उनका महत्व समाज में सदैव ही बना रहता है। संक्षेप में वृद्ध व्यक्तियों को सामाजिक व वैचारिक क्षेत्रों में अनेक प्रकार के समझौते करने पड़ते हैं। नयी परिस्थितियों में व्यवहार के नये प्रतिमान उन्हें सीखने ही नहीं पड़ते अपितु उनके सन्दर्भ में उन्हें आचरण भी करना पड़ता है।

इस प्रकार किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व के विलास में समाजीकरण की सबसे प्रमुख भूमिका होती है। व्यक्तित्व का विकास सिर्फ जैविक प्रक्रिया नहीं है बल्कि सामाजिक प्रक्रिया है, व्यक्ति जन्म से ही अपने गुणों को प्राप्त नहीं करता बल्कि समाज के सदस्य के रूप में वह धीरे-धीरे अर्जित करता है। लुण्डबर्ग ने अपनी कृति ' सोशोलॉजी ' में समाजीकरण को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि व्यक्ति का व्यवहार जब समाज के अनुरूप होता है तो उसे समाजीकरण से व्यक्त करते हैं।

9.5 समाजीकरण के अभिकरण :

बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक व्यक्ति के जीवन में जितने भी लोग आते हैं उन सभी से वह कुछ न कुछ अवश्य सीखता है। इसलिए कहा जाता है कि समाजीकरण के बहुत सारे अभिकरण होते हैं। इसके बावजूद कुछ ऐसे अभिकरण हैं जो विश्वव्यापी स्तर पर समाजीकरण की प्रक्रिया में अहम् भूमिका निभाते हैं। किम्बाल यंग ने लिखा है कि "समाज के अन्तर्गत समाजीकरण के विभिन्न साधनों में परिवार सबसे महत्वपूर्ण है। परिवार के अन्तर्गत माता-पिता ही साधारणतया सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति होते हैं। समाजीकरण के अन्य साधनों में पड़ोस, सगे संबंधी, प्राथमिक समूहों के सदस्य तथा बाद में द्वितीयक समूहों की सदस्यता आती है। समाजीकरण करने वाली संस्थाओं को दो भागों में विभाजित किया गया है -

- प्राथमिक संस्थाएँ
- द्वैतीयक संस्थाएँ

1 प्राथमिक संस्थाएँ

प्राथमिक संस्थाएँ वे हैं जहाँ बालक का प्रारम्भिक स्तर का समाजीकरण होता है, जिसमें उसके मूलभूत व्यक्तित्व का निर्माण होता है। ये संस्थाएँ निम्न हैं

(अ) परिवार:

समाज का निर्माण और उसकी निरन्तरता परिवार के द्वारा ही सम्भव है। शिशु परिवार में जन्म लेता है अतः सर्वप्रथम अपने समाज एवं संस्कृति के बारे में परिवार में ही सीखता है। बोलना, खड़ा होकर चलना ढंग से रहना, वस्त्र पहनना, विभिन्न प्रकार के लोगों के साथ व्यवहार करने के संबंध में सर्वप्रथम वह परिवार में ही सीखता है। परिवार में ही वह उचित अनुचित में भेद करना सीखता है उसमें नैतिकता के भाव उत्पन्न होते हैं। भाषा का प्रयोग विभिन्न लोगों के साथ अनुकूलन करना बड़ी की आज्ञा पालन करना, पारिवारिक आदर्श व मूल्य व आदर्श नागरिकता का पाठ परिवार से ही सिखता है। अतः कहा जाता है कि परिवार शिशु की प्रथम पाठशाला है। बच्चा परिवार का ही प्रतिरूप होता है। परिवार से ही बालक को प्रस्थिति व भूमिका का ज्ञान होता है।

परिवार एक सार्वभौमिक संस्था है, अतः समस्त विश्व में यह समाजीकरण की आधारभूत संस्था है। पारसन्स ने व्यक्तित्व निर्माण के लिए परिवार को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि परिवार बालक के व्यक्तित्व को विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है इसी कारण व्यक्ति के समाजीकरण में परिवार की भूमिका महत्वपूर्ण होती है।

(ब) मित्रों का समूह :

बच्चा घर से बाहर जिस दूसरी समाज व्यवस्था में अन्तःक्रिया करता है वह मित्र समूह होता है। बच्चा घर से बाहर निकल कर अपने साथियों के साथ खेलता है जहाँ वह अनेक प्रकार के व्यवहारों को सीखता है – खेल के नियम, अनुशासन, नेतृत्व के गुण, अन्य साथियों से अनुकूलन करना आदि वह अपने साथी समूह में ही सीखता है। खेलते समय उसमें परस्पर सहयोग, प्रतिस्पर्धा, संघर्ष, सहकारिता आदि गुण विकसित होते हैं। ब्रूम व सेल्जिनिक ने कहा है कि मित्रों के समूह का आधुनिक युग में अत्यन्त महत्व है क्योंकि 'आधुनिक व्यक्ति' दूसरों के मूल्यों व विश्वासों में अधिक आस्था रखता है।

(स) पड़ोस:

पड़ोस का भी बच्चे के समाजीकरण में महत्वपूर्ण योगदान होता है। शहरों की तुलना में गांवों में पड़ोस का अधिक प्रभाव होता है। बच्चे अनजाने में ही पड़ोसी से ही कई बातें सीख जाते हैं उसका वहाँ के लोगों व बच्चों पर प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति जिस ढंग के परिवेश में रहता है उसका प्रभाव उसके व्यक्तित्व में अवश्य दिखाई पड़ता है।

(द) नातेदारी समूह :

नातेदारी समूह में रक्त एवं विवाह से संबंधित सभी रिश्तेदार आ जाते हैं। अतः भाई-बहिन, पति-पत्नी, साले-साली, सास-ससुर व उनके भी दूर के संबंधी हमारे संबंधी हो जाते हैं। इन सबसे हमारा पृथक पृथक व्यवहार होता है। किसी के साथ परिहास का तो किसी के साथ परिहार का व किसी से माध्यमिक संबंध है। इन सब के पृथक-पृथक व्यवहार प्रतिमानों को हम सीखते हैं। प्रस्थिति व भूमिका की श्रृंखलाएँ व्यवहार के द्वारा हम आत्मसात करते जाते हैं।

(य) विवाह:

विवाह का भी व्यक्ति के जीवन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। विवाह के बाद लड़के व लड़की को पति-पत्नी की भूमिका निभानी होती है। उन्हें नये दायित्वों का निर्वाह करना होता है। एक दूसरे के लिए त्याग करना होता है, परस्पर निष्ठा व विश्वास रखना होता है। नई प्रस्थितियों व भूमिकाएँ विवाद के उपरान्त ही ग्रहण की जाती हैं जिनके साथ तादात्म्य व आन्तरीकरण करना होता है।

2 द्वितीयक संस्थाएँ

(अ) शिक्षण संस्थाएँ:

शिक्षण संस्थाएँ हमें समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बनाती हैं और यही समाजीकरण है। शिक्षण संस्थाओं में समाजीकरण के तीन स्रोत हैं (1) गुरुजन (2) सहपाठी (3) पुस्तक। इन्हीं तीन चीजों के मिलने से स्कूली शिक्षा का वातावरण निर्मित होता है जिसके प्रभाव से व्यक्ति का विकास होता है। यहां व्यक्ति नवीन ज्ञान अर्जित करता है। उसकी मानसिक क्षमता का विकास होता है। व्यक्ति समाज व संस्कृति के बारे में ज्ञान प्राप्त कर व्यक्ति में निखार लाता है।

(ब) राजनैतिक संस्थाएँ :

राजनैतिक संस्थाएँ व्यक्ति को शासन, कानून, अनुशासन आदि सीखाती हैं। ये व्यक्ति को उसके कर्तव्यों और अधिकारों के प्रति जागरूक करती हैं। ये संस्थाएँ समाज की दिशा का ज्ञान कराती हैं जिसके द्वारा व्यक्ति समाज में अपना समाजीकरण कर सकता है।

(स) धार्मिक संस्थाएँ :

व्यक्ति के जीवन पर धर्म का गहरा प्रभाव होता है। धार्मिक संस्थाएँ हमें ईश्वर के बोध से अवगत-कराती हैं। व्यक्ति में पवित्रता न्याय, सच्चरित्रता, कर्तव्य परायणता, ईमानदारी, दया आदि गुणों का विकास करने में धर्म प्रमुख भूमिका निभाता है। धार्मिक संस्थाएँ सीखाती हैं कि मन्दिर या पवित्र स्थल पर कैसा व्यवहार करना चाहिए। इस प्रकार ये संस्थाएँ व्यक्ति को धार्मिक शास्त्रों से परिचित कराती हैं।

(द) आर्थिक संस्था

आर्थिक संस्थाएँ व्यक्ति को जीवन यापन के लिए समर्थ बनाती हैं। ये संस्थाएँ व्यक्ति को व्यवसायिक संघों से परिचित कराती हैं। व्यक्ति में सहयोग, प्रतिस्पर्द्धा एवं समायोजन के भाव उन्नत करती हैं। मार्क्स व वेबलिन का मत है कि अधिक संस्थाएँ ही व्यक्ति के जीवन और सामाजिक ढांचे को निर्धारित करती हैं।

(य) सांस्कृतिक संस्थाएं

सांस्कृतिक संस्थाओं द्वारा व्यक्ति समाज की संस्कृति से परिचित होता है। नगरों व महानगरों में कवि सम्मेलन, नाटक, गोष्ठियां आदि के आयोजनों द्वारा व्यक्तियों को उस समाज की संस्कृति से अवगत कराया जाता है। ये संस्थाएँ व्यक्ति को अपनी संस्कृति से परिचित कराती हैं। इनके द्वारा व्यक्ति अपनी प्रथाओं, परम्पराओं, वेशभूषा साहित्य, कला, भाषा आदि से परिचित होता है और ये संस्थाएँ उसके व्यक्ति के विकास में – योग देती हैं।

इन सभी संस्थाओं के अतिरिक्त व्यक्ति व्यवसाय समूह द्वारा भी सीखता है। किसी अजनबी के सम्पर्क में आने पर भी उससे विशिष्ट प्रकार के व्यवहार करने की अपेक्षा की जाती है इस प्रकार प्राथमिक व द्वितीयक संस्थाओं के माध्यम से व्यक्ति का समाज में समाजीकरण होता है जो आजन्म चलता रहता है।

9.6 सारांश

इस प्रकार समाजीकरण वह तरीका है जिसके द्वारा संस्कृति संचारित होती है और इससे व्यक्ति का जीवन संगठित रहता है। समाजीकरण जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है। इसी प्रक्रिया के द्वारा बच्चा समूह जीवन में भाग लेना सीखता है और अपने समाज के मूल्यों को ग्रहण करता है। समाजीकरण न केवल हमारे व्यवहार को नियमित करता है बल्कि व्यक्ति और आत्म जागरूकता के विकास के लिए भी अपरिहार्य शर्त है। इस प्रकार समाजीकरण के द्वारा जहां एक ओर संस्कृति का संचरण होता है वहीं व्यक्ति का विकास भी होता है।

बिना परिवार व समाज के समाजीकरण सम्भव नहीं। समाजीकरण के बिना मनुष्य पशुवत् रहता है। डेविस ने अन्ना व इसलिए नामक दो ऐसे समाज से विलग बालकों का उल्लेख किया है जो समाज से पृथक् रहे। इसी कारण उनमें मानवोचित गुणों का विकास नहीं हो पाया। मानवोचित गुणों के विकास के लिए समाज से सम्पर्क जरूरी है। इस प्रकार समाज में रहते हुए ही समाजीकरण हो सकता है उसी के द्वारा व्यक्ति व संस्कृति का विकास सम्भव है।

9.7 बोध प्रश्न

1. समाजीकरण क्या है ?
2. समाजीकरण की प्रक्रिया के टालकट पारसन्स ने कितने स्तर बताये हैं ?
3. ऑडिपस व इलेक्ट्रा कॉम्प्लैक्स क्या है?

9.8 सन्दर्भ ग्रंथ

- (1) सिंह, जे.पी.,” समाजशास्त्र : अवधारणाएँ एवं सिद्धान्त “ प्रेंटिस – हाल इंडिया नई दिल्ली 2003।
- (2) दोषी, एस.एल. एवं जैन पी.सी. “ समाज शास्त्र नई दिशाएँ “ नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर 1998।
- (3) सिंधी, एन.के. एवं गोस्वामी, वसुधाकर 'समाजशास्त्र विवेचन' राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर : 2005

